UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180286
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 U65Y   Accession No. G.H. 2767

Author उपाध्याय, हरिऔध

Title युग-धर्म 1555

This book should be returned on or before the date last marked below.

युग-धर्म

——राष्ट्र-निर्माण के लिए उद्बोधक विचार——

हरिभाऊ उपाध्याय

●

१९५८

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५८
मूल्य
ैमे
दो रुपया

मुद्रक
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

'युगधर्म' के प्रवर्तक
राष्ट्रपिता
बापू के चरणों में

—हरिभाऊ

प्रकाशकीय

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में बताया गया है कि आज के युग में हमारा क्या धर्म—कर्त्तव्य—है। दूसरे शब्दों में, इस पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि गांधीजी (सर्वोदय) की विचार-धारा के अनुसार हमारे वर्तमान समाज का किस प्रकार सर्वांगीण विकास किया जा सकता है और उसमें देश के नागरिकों को क्या करना चाहिए। पाठकों की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक की सामग्री चार भागों में विभक्त कर दी गई है। १. आह्वान २. आदर्श ३. साधना और ४. समस्या। इन चारों विभागों की सामग्री को मिलाकर अपेक्षित समाज का न केवल स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है, अपितु वह मार्ग भी, जिसपर चलकर समाज के नव-निर्माण का कार्य संपन्न किया जा सकता है।

पुस्तक इसलिए तो महत्वपूर्ण है ही कि वह आज की छोटी-बड़ी अनेक समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान खींचती है, लेकिन इससे भी अधिक उसकी उपयोगिता यह है कि वह समस्याओं का समाधान बड़े ही सरल एवं सुबोध ढंग से सुझाती है।

हमें विश्वास है कि इस किताब से पाठकों को बहुत-सी विचार-प्रेरक सामग्री मिलेगी और वे इससे लाभान्वित होंगे।

—मंत्री

दो शब्द

इस संग्रह का नाम 'युग-धर्म' इसलिए रखा गया है कि विविध विषयों पर होते हुए भी, शाश्वत धर्म का विवेचन करते हुए भी, इन लेखों में हमारे वर्तमान कर्तव्य अर्थात् युग-धर्म पर ही जोर दिया गया है। शाश्वत या सनातन धर्म मनुष्य के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही युग-धर्म भी, जोकि उसीका एक महत्वपूर्ण अंग है। शाश्वत धर्म के सिद्धांतों पर जब हम अमल करते है या करने का प्रयत्न करते हैं तब युग-धर्म का उदय होता है। शाश्वत धर्म जब देश, काल, पात्र की मर्यादा में बंधता है तब वह युग-धर्म हो जाता है। मेरी मान्यता के अनुसार आज का युग-धर्म 'सर्वोदय' है, जिसमें मानवता का चरम विकास अभिलषित है। अतः मेरी सबसे अधिक दिलचस्पी मानवता के विकास में है, उसीके सिद्धांत हमारे लिए आधारभूत हो सकते हैं। परंतु अभी तो मानवता के विकास को हमारी छिन्न-भिन्नता और हिंसा-वृत्तियों के हिमालय ने रोक रखा है। जबतक हम इस बेड़ी को तोड़कर आगे नहीं बढ़ने लगते तबतक 'सर्वोदय' तो दूर भारतीय राष्ट्र का पुर्ननिर्माण भी महान् कष्टसाध्य है। अतएव प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि पहले वह इस हिमालय को चूर-चूर कर दे। परंतु इसकी अर्थात् राष्ट्र-निर्माण की विधि ऐसी हो जिससे 'सर्वोदय' की क्रांति के आने में सुगमता हो, और हमें अपनी दिशा में परिवर्तन न करना पड़े। इस विधि की खोज में रचनात्मक और निर्माणात्मक भूदान-ग्रामदान आदि कार्यक्रमों की उत्पत्ति हुई है। रचनात्मक कार्यक्रम क्या है? राष्ट्र-रचना के दुर्बल अंगों को सबल बनाना, मुरझाये अंगों को खिलाना, सोई शक्तियों को जगाना, दूसरे शब्दों में भारतीय मानवता के संपूर्ण अंगों का समान विकास करना। 'युग-धर्म' में आप देखेंगे कि इन सभी दिशाओं में पाठकों को मेरे अनेक लेखों में विचार और उत्साह-सामग्री दी गई है।

स्वराज्य तो अब आ गया, उसे टिकाय रखना और भावी राष्ट्र-निर्माण की नींव डालना ही भारत का वर्तमान युग-धर्म है। पाठकों को 'युग-धर्म' में इसीकी झलक दिखाई देगी। यदि इन दोनों बातों की प्रेरणा पाठकों को 'युग-धर्म' से मिली तो मैं इस संग्रह को सार्थक समझूंगा।

कोई ३० साल पहले 'मंडल' की ओर से 'युग-धर्म' नाम से एक संग्रह निकला था, परंतु निकलते ही तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। लेकिन यह संग्रह बहुत-कुछ नवीन और अप-टू-डेट--ताजा है। इसमें अबतक की प्रमुख समस्याएं आगई हैं। आशा है, मेरी और रचनाओं की तरह पाठक इसे भी चाव से पढ़ेंगे और सर्वोदय की नवीन क्रांति का पथ प्रशस्त करेंगे।

—हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

१. आह्वान — १–४६

१. पागल बनो ! — ३
२. 'एकला चलो रे' — ६
३. सबसे पहला प्रश्न — ८
४. बलि-वीरों की जरूरत — १०
५. विद्यार्थी रुख बदलें — १२
६. यह हल नहीं है — १३
७. असली काम — १६
८. नवयुग का प्रतीक — १७
९. भूदान की गंगोत्री — १९
१०. शांति की दिशा में — २१
११. योजना चाहिए — २५
१२. अपनी ओर देखें — २८
१३. चुनाव : होश न खोवें — ३१
१४. चुनाव : युद्ध नहीं, पर्व — ४३

२. आदर्श — ४७–७४

१. आदर्श विजय — ४९
२. हिंसा और अहिंसा — ५२
३. मनुष्यता और पशुता — ५५
४. धर्म और राजनीति — ५९
५. आदर्श समाज — ६२
६. अहिंसा वीरों का धर्म है — ६६
७. पाप क्या है ? — ६८

३. साधना **७५–१०२**

१. सिद्ध-योग ७७

२. शौक और सेवा ८०

३. भय का भूत ८३

४. उपहास ! ८६

५. अनुत्साह का मूल ९०

६. सत्याग्रह का मर्म ९२

७. भावी स्वप्न ९६

८. आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता ९९

९. सेवा का व्यसन १०१

४. समस्या **१०३–१४६**

१. संसार की समस्या १०५

२. हमारा अन्नदाता ११२

३. हमारे पाप ११७

४. सार्वजनिक और व्यक्तिगत संबंध १२४

५. ईश्वर किनका है ? १२६

६. सार्वजनिक चर्चा से लाभ १२८

७. एकता की समस्या १३१

८. हिंदू-जाति और नंगे साधु १३३

९. विवाद-युग १३४

१०. मालिक और मजदूर १३६

११. दलबंदियों का मूल १३८

१२. सिद्धात नही, स्वभाव १४१

१३. मजहबी राज या जनतंत्र ? १४५

उपसंहार **१४७**

१. आह्वान

१. पागल बनो !
२. 'एकला चलो रे'
३. सबसे पहला प्रश्न
४. बलि-वीरों की जरूरत
५. विद्यार्थी रुख बदलें
६. यह हल नहीं है
७. असली काम
८. नवयुग का प्रतीक
९. भूदान की गंगोत्री
१०. शांति की दिशा में
११. योजना चाहिए
१२. अपनी ओर देखें
१३. चुनाव : होश न खोवें
१४. चुनाव : युद्ध नहीं, पर्व

: १ :

पागल बनो !

आपने स्वराज्य तो ले लिया, अब क्या आप रामराज्य चाहते हैं ? 'सर्वोदय' चाहते हैं ? नवीन समाज चाहते हैं, ऊंचा समाज चाहते हैं ? बिना विलंब चाहते हैं ? तो उसके लिए पागल बनिये, पागल बनिये ! पर क्या आप पागल दिखाई देते हैं ? स्वराज्य की तरह इस रामराज्य के पागल आज भारत में कितने हैं ? 'सर्वोदय' के मतवाले लाल कितने हैं ? 'समझदारी' बुरी चीज़ नहीं। भारत को अपने समझदारों का अभिमान भी है। पर जब वह समझदारी हमको पागल बनने से रोकती है तब हम न घर के रहते हैं, न घाट के। हम मानते हैं कि दिमाग़ हमारा पथ-प्रदर्शक है, हमारा चौकीदार है। पर क्या देहरादून से मसूरी का पहाड़ महज़ देख लेने से हम मसूरी के सुखों को पा गये ? हमारे आला दिमाग़ ने हमको बता दिया कि हमारे ध्येय की सिद्धि का यह और यही एक मार्ग है। हम छोटे-बड़े दिमाग़ों ने भी अपना दिमाग़ लड़ा देखा। हम क़ायल हैं कि 'रामराज्य' या 'सर्वोदय' के लिए शांति स्थापना तथा रचनात्मक कार्यक्रम से बढ़कर कारगर और क्रांतिकारी कार्यक्रम दूसरा नहीं हो सकता; पर क्या इतने से हमें रामराज्य मिल सकता है ? वह तो तभी मिलेगा जब हम उस रास्ते पर चलने के लिए मतवाले हों। दिमाग़ ने अपना काम किया। उसने एक योजना व कार्यक्रम बना दिया। अब कोरी दिमाग़ी कसरत से काम न चलेगा। हमें उससे आगे बढ़ना होगा। अब हमें दिल से काम लेना होगा। दिमाग़ को आराम करने दें। दिल ही मैदान में अपना जौहर दिखावे। दिमाग़ी लड़ाई दिल की लड़ाई की तैयारी भले ही हो, पर वह सच्ची लड़ाई नहीं कही जा सकती। सच्ची लड़ाई तो दिल के ही द्वारा लड़ी जा सकती है। पागल होने का, मतवाला होने का माद्दा दिल में है; दिमाग़ में नहीं।

आगे खींचने की ताकत दिल में है, दिमाग़ में नहीं। दिल इंजिन है, दिमाग़ 'ब्रेक' है। दोनों के बिना गाड़ी गन्तव्य स्थान पर——ठीक मुकाम पर——नहीं पहुंच सकती। पर गाड़ी को आगे खींच ले जाने का काम तो इंजिन का ही है। इंजिन के ठंडे पड़ जाने पर ब्रेक की ताकत नही कि वह गाड़ी को आगे बढ़ा सके। दिल के निरुत्साह हो जाने पर दिमाग़ के बस की बात नही कि वह हमें आगे ले जा सके। दिल हमें आशा दिलाता है, हमें साहसी बनाता है, हमें निर्भयता सिखाता है, हमें सच्चा शूरवीर बनाता है; दिमाग एक ओर जहां हमें भटकने से रोकता है तहा दूसरी ओर हममें छुपे-छुपे कायरता का संचार करता है। योद्धा लोग लड़ाई में दिल को अपना देवता बनाते हैं। दिल ही उन्हें कुर्बानी की ताकत देता है। दिल ही उन्हें अपने लक्ष्य की झलक दिखाकर उत्साहित करता है। दिमाग़ में विकास है, दिल में क्रांति है। दिमाग़ कहता है——"धीरे-धीरे, होशियारी के साथ, जान बचाकर, फूंक-फूंककर।" दिल कहता है——"कूद पड़ो, मर मिटो। एक दिन तो मरना है। आज की घड़ी नसीब न होगी।"

भारत के नौनिहाल, रामराज्य के लिए, 'सर्वोदय' के लिए दिमाग़ी तरकीबों से काम लेने का खयाल छोड़ दो। यह धोखा है, माया है। दिल से लड़ो। दिल को आगे बढ़ाओ। दिल पागल है, मतवाला है। देखो, एक 'पागल' दिल ने सारे ब्रिटिश साम्राज्य को हिला डाला था। क्या तुम पागल नहीं बन सकते? क्या दिमाग़ पर तुम्हारा दिल विजय नही पा सकता? क्या सोचते ही रहोगे, करोगे नही? कोसते ही रहोगे, आगे नही बढ़ोगे? रास्ता कठिन है, कंकरीला है, इसलिए उस हरी घास पर चलना चाहते हो, जिसे कोसों पीछे छोड़ दिया है? आज तुम क्रांति के मार्ग पर हो। तुम्हारे विचारों मे अद्भुत क्रांति हो गई है, अपूर्व जीवन आ गया है। तुम राम-राज्य को अपने दृष्टि-पथ में ले आये हो। अपने चरित्र में क्रांति करो। काम में लग जाओ। यदि निष्फलता आती दीखे तो भी आदर्श व सिद्धांत पर अटल रहकर श्रद्धा के साथ इस मार्ग पर बढ़ो। भारत ही नहीं, विश्व विकट संकट में है। भारत-माता का हृदय तड़प रहा है, तुम भीतरी

अशांति के पेट में हो। हिम्मत ही इस समय तुम्हारा साथ देगी। धीरज, धर्म, मित्र और अपनी हृदय-देवियों की परीक्षा का समय है। पहाड़ की चढ़ाई है। इसका अंत हमेशा बड़ा सुख और आह्लादकारी होता है। बाग़-बगीचे का ख़याल छोड़ दो। फूल की सेजो की बात ख़तम करो। हलवा-पूरी का आर्डर मुल्तवी कर दो। दिल पर हाथ रखो, उसमें उत्साह नज़र आवेगा। वह रात-दिन अपनी ड्यूटी बजाता है, कभी नहीं थकता, न उक-ताता है। हरद्वार की ंगा का संदेश सुनो––"बहते चलो, बहते चलो,उछ-लते चलो, कूदते चलो।"उसे आजतक श्रांत या क्लांत किसीने नही देखा। वह हमारे हृदय के लिए पूजनीया है। वीर इस बात की शिकायत नहीं करते कि "साहब, काम मुश्किल है, नही होता।" सिपाही तो इसमें अपनी बड़ी बेइज्जती––नही, मृत्यु समझता है कि वह कहे––"यह हमसे न हो सकेगा।" वह मर भी मिटता है, पर 'न करने या न होने' का खयाल भी नही आने देता; क्योंकि उसके पास दिल है। वह उसकी सिद्धि के लिए दिलोजान एक कर देगा, वह उसके पीछे पागल हो जायगा। क्या हम सचमुच रामराज्य के पीछे पागल हो गये है? क्या हमने रामराज्य के पीछे खाना-पीना, सुख से सोना, छोड़ दिया है? जीवन के आनंद को भुला दिया है? रामराज्य के लिए तन, मन, धन अर्पण करने में ही अपना आनंद मान लिया है? क्या हमें बस एक ही धुन, नवराष्ट्र-निर्माण की धुन है? क्या हमने कराची से कामरूप और हिमालय से कन्याकुमारी तक देश को हिला डालने का प्रण कर लिया है? अपने हाथ की या अपने घर की कती खादी के सिवा दूसरा कपड़ा न पहनने के लिए प्रतिज्ञा करली है? छुआ-छूत के पाप को भारत से नष्ट कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया है? प्रेम, शाति, भ्रातृ-भाव, क्षमा, उदारता, सौजन्य इन सद्गुणों के उत्कर्ष पर कमर कसली है? आज विनोबा पैदल चल-चलकर पुकारते है, जवाहरलाल आवाहन करते है। यदि इनपर कान न दिया, हमने कुछ भी न किया तो बताओ, हम देश के गरीबों के लिए, रामराज्य के लिए समता और न्याय के लिए पागल कैसे हुए? यह मत समझो कि कोई बिना प्रयत्न किये तुम्हें

'सर्वोदय' लाकर दे देगा। उसके लिए पागल बनो। देश के सामने राष्ट्र-निर्माण का जो अमूल्य अवसर उपस्थित है, उसकी शर्तें पूरी करो, उसकी कीमत चुकाओ और साथ ही इसके लिए सदा तैयार रहो कि यदि यों कुछ न होगा तो अपने अथक श्रम, तप, त्याग व बलिदान के रण-डंके से आकाश को कंपित कर देंगे। बस भारत के लिए पागल बनो, नवनिर्माण के लिए 'करो या मरो।' यही समय है। फिर एक बार पागल बनने का यही समय है।

: २ :

'एकला चलो रे'

पिछले सात-आठ सालों की घटनाओं पर जब दृष्टि डाली जाती है तो भारत-माता का गंभीर शोकाकुल चित्र आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। क्या राष्ट्रीय और क्या सांप्रदायिक, दोनों जगत् में छिन्न-भिन्नता, विश्रृंखलता और अराजकता का काफी जोर रहा। कांग्रेस में दलबंदी व पद-लोलुपता जोरों पर है तो बाहर दूसरी पार्टियां परेशानी पैदा कर रही हैं। धार्मिक या सांप्रदायिक जगत् मे तो धर्म-संस्कृति और जाति के नाम पर हमने पहले बेरोक खून की नदियां बहाई ही—बच्चों व बहन-बेटियों पर अत्याचार किये ही। परंतु राष्ट्रीय जगत् मे भी भारत के पुर्ननिर्माण के प्रश्न को लेकर हमने वही दृश्य दिखा दिये। चाहे राष्ट्रीय प्रश्नों को लेकर, चाहे सांस्कृतिक और सांप्रदायिक प्रश्नों को लेकर ये उपद्रव-मार-काट होते हों, मेरी राय में मूल दोनों का एक ही है—भारत की पुरानी फूट की बीमारी। फूट भारत की सबसे भयंकर और हृदयदाहक कमजोरी है। फूट का मूल है अंध और घृणित स्वार्थ। प्राचीन काल की वह फूट ही आज हमारे विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रो में दलबंदी, मतभेद, मारकाट आदि के रूपों में प्रकट हो रही है। जहां एक संस्था बनी नही कि उसमें पर-

स्पर-विरोधी दो दल बने नहीं। मत-भेद को कहांतक सीमित रखना, यह विवेक हमसे आज तो दूर ही नजर आता है। मत-भेद की अवस्था में हम संस्था के हित और उद्देश्यों को भूल ही जाते हैं और अपने क्षुद्र स्वार्थ, महत्वाकांक्षा, अभिमान आदि के वशीभूत होकर वैमनस्य मोल ले लेते हैं। हमारे अंदर क्षुद्रताओं, मलिनताओं से ऊपर उठने की शक्ति आनी चाहिए। हमारी दृष्टि व्यापक और उदार होनी चाहिए। यह बात नही कि हमारे अधिकांश शिक्षित और सहृदय देश अथवा समाज-सेवक इन अभावों को न जानते हों, पर विचार पर विकार इतना प्रभुत्व जमा लेता है कि विवश ही रहते हैं। इसका मूल कारण यह है कि इन अभावों, त्रुटियों, दोनों से उनके दिल को गहरी चोट नही पहुंचती। उनका दिल इस बात के लिए बेचैन नही होता, तड़फता-छटपटाता नही कि कब इससे हमारा छुटकारा हो। जब यह पीड़ा हमारे हृदय को विकल कर देगी, तब उनके दुःख और आनंद, क्षोभ और उत्साह को हम अच्छी तरह अनुभव करेंगे। उस समय हमें अपनी कमजोरियों का भयंकर और नाशकारी सच्चा रूप दिखाई देगा और हम उन्हें दूर करने के लिए मतवाले हो जायंगे। मुझे तो हमारी इस राष्ट्रीय फूट में सामाजिक छिन्न-भिन्नता में समता और स्वतंत्रता की लगन की कमी दिखाई पड़ती है।

यह तो हुआ भारत-माता का शोक-संतप्त और चिताग्रस्त चित्र। यह खून से रंगा हुआ और फूट से भरा हुआ जरूर है, पर है सजीव। इसमें दुःख और शोक भले ही हो, पर निराशा नही है। संघर्ष और संग्राम-ज्योति के चिह्न चाहे न हों, जीवन और जाग्रति के चिह्न अवश्य होते हैं। राष्ट्रीय विशृंखलता और सामाजिक छिन्न-भिन्नता ऊपर से हमें अधीर बना देते हों, पर भीतर-ही-भीतर जो तेज और चैतन्य अपनी जड जमा रहा है उससे आंखें नहीं मूदी जा सकती। अन्याय और अत्याचार को सहन न करने की प्रवृत्ति जबतक बनी हुई है, उसके दर्शन जबतक हो रहे हैं, फिर वे अवांछ-नीय रूप में ही क्यों न हो, तबतक निराश होने का प्रयोजन नही। जिन हृदयों में ईश्वर ने यह बेचैनी पैदा कर दी है और जो हृदय अपनेको बलि-

वेदी पर चढ़ा चुके हैं, उनका उत्साह, त्याग और तप-जप बढ़ रहा है, तब-तक ये चिंता और विषाद की घटाएं हमारे दिल को तोड़ नहीं सकतीं। वे तो हमें उलटा और दृढ़ बनाने तथा आगे बढ़ने के लिए 'एड़ लगाने' का काम देती हैं। अतएव वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक दोषों के अंदर छिपे-छिपे काम करनेवाली रचनात्मक शक्तियों को भूलकर बैठना कदापि उचित नहीं, बल्कि उसके तेज से उद्दीप्त होकर, कठिनाइयों, बाधाओं, चिंताओं और अनुत्साह के बादलों को चीरकर एक-एक कदम क्यों न हो, आगे ही बढ़ने का यत्न करना चाहिए। कवि-सम्राट् ने ऐसे समय के लिए क्या ही सुदर और स्फूर्तिमय संदेश हमें दे रखा है--

एकला चलो रे,
जदि तोर डाक सुने केउ ना आशे,
तबे एकला चलो रे।

बापू के महा-बलिदान से, विनोबा के महान तप से, जवाहर के अथक श्रम से हमारी सुप्त व शिथिल आत्मा जाग्रत हो उठी है और उसका स्थान उत्साह तथा काय-श्रम दिन-दिन लेता जा रहा है। यही अवसर है जब बापू के 'करो या मरो' के संदेश को नये सिरे से घर-घर फैला दें--राष्ट्रीय फूट और साम्प्रदायिकता की जड़ को काटने में हम अपने-आपको झोंक दें, खपा दें।

: ३ :

सबसे पहला प्रश्न

इस समय देश में मतभेद तथा विचार-धाराओं और विभिन्न स्वार्थों के भाव जोर पर हैं। इतने बड़े देश में आदर्श तो सबके सहसा एक हो नहीं सकते। उनमें मतभेद रहता ही है तो उन्हें अंत में सहन ही करना चाहिए। उनके लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती से, धोखाधड़ी व मारकाट से, काम न लेना

चाहिए। इसके लिए कार्यकर्ताओं का संगठन जरूरी है। हमारे देश में विद्या-बुद्धि, त्याग, साहस, पराक्रम, कार्य-तत्परता, व्यवस्था और संगठन-बल रखनेवाले कार्यकर्ता, संख्या और गुण की दृष्टि से, कम नहीं हैं। अपने-अपने ढंग से वे जहां-तहां अपनी-अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार काम भी कर रहे हैं; किंतु एक तो वे एक नियंत्रण में नहीं है और, दूसरे परस्पर शृंखलाबद्ध नही हैं। इससे भिन्न-भिन्न कारणों से आपस में टकरा जाते हैं, और इससे भी बढ़कर दुःख की बात यह है कि इससे उन शक्तियों में अधिक कार्य-बल आने के बजाय वातावरण दूषित बनता है, जिससे निर्दोष सास लेना कभी-कभी कठिन हो जाता है। मेरा अनुभव तो यह है कि कोरा मत-भेद या सिद्धात भेद कभी गंदगी पैदा नही करता। महात्माजी और पं० जवाहरलालजी में क्या मत-भेद नही था? सरदार वल्लभभाई पटेल और नेहरूजी में क्या मत-भेद नही था?

वैमनस्य, कटुता, गंदगी ये मत-द्वेष और व्यक्ति-द्वेष से पैदा होते हैं और इसका मूल है या तो अनुचित महत्वाकांक्षा या सस्ती प्रसिद्धि और बड़प्पन की चाह।

यदि मनुष्य अपने गुणों के बल पर बनता हो, आगे आता हो, तो उसे न कोई रोक ही सकता है और न उससे वातावरण की स्वच्छता बिगड़ सकती है; किंतु जब वह दूसरों की कृपाओं के सहारे, या दूसरों को गिराकर अथवा पीछे हटाकर, तिकड़म या उखाड़-पछाड़ के बल पर ऐसा करना चाहता है, तभी कटुता और गंदगी फैलने लगती है, क्योंकि इन दोनों के लिए उसे अनुचित साधनों से काम लेना पड़ता है। इसलिए केवल सत्य का प्रकाशन नही, बल्कि दूसरों का विरोध उसे आवश्यक मालूम पड़ता है। जब ऐसा प्रतीत होने लगे कि अमुक व्यक्ति आगे बढ़ रहा है, उसे जनता के सामने से हटाये बिना मेरी पूछ नहीं होगी, तभी समझना चाहिए कि हम गिरावट के रास्ते चल पड़े हैं और हमारी इस मनोवृत्ति से जो कार्य होंगे वे वातावरण को दूषित किये बिना न रहेंगे। फिर उन्हें हम चाहें कितने ही छिपाकर और संभल-संभलकर करें अथवा कितना ही सौम्य, शिष्ट और

भद्र स्वरूप दें ।

ऐसी दशा में, मेरी समझ से, हमारे सामने इस समय सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रश्न है अपनी तमाम बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र और संगठित करके परस्पर-पोषक कामों में लगा देना ।

यह कैसे हो, इसका निर्णय कार्यकर्ताओं को परस्पर मिलकर अपने ही मत से करना चाहिए और इसमें उन्हें एक मिनट का भी विलंब न करना चाहिए । इससे भी अधिक तात्कालिक काम हमारे सामने है, महात्माजी के बलिदान को सार्थक बना देना । उनका शरीर भले ही न रहा हो, पर उनकी अंतरात्मा एक उज्ज्वल भावी की, एक ऐतिहासिक युग की, झलक हमें दिखा रही है । तब कौन ऐसा अभागा और कुपूत होगा, जो अपने को उस विश्व-गौरव के योग्य न साबित करेगा ? अपने टूटे-फूटे क्यों न हो, पर श्रद्धावान, हृदयों को उसके लिए आगे न बढ़ावेगा ?

: ४ :

बलि-वीरों की जरूरत

महात्माजी के निधन के बाद देश को बलि-वीरों की जरूरत और भी ज्यादा होगई है । उनके बलिदान ने साम्प्रदायिक ज़हर की लहर को रोककर इसकी जरूरत अच्छी तरह साबित कर दी है । ऊपर से सरकार द्वारा और नीचे से बलि-वीरों द्वारा सम्मिलित काम होने की आवश्यकता है । हमारे नौनिहाल अपने-आपको इसके लिए समर्पण करें जो अब भी गुलाम, विवश व बेकस हैं उनकी बेड़ियों को काटने के लिए और जीवन को भारभूत, अमंगल, सत्वहीन बना देनेवाली असहायता के गर्त से देश को उठाने के लिए कोई भी कुरबानी कम नहीं है । वे सचमुच ही भाग्यशाली हैं, जो समय पर अपनी कुरबानी की भेंट चढ़ा देते हैं । वे मंदभागी हैं जो सुनते और समझते रहते हैं, और वे कायर हैं, जो बलिवेदी पर चढ़नेवालों का मखौल उड़ाते हैं ।

परंतु महज जोश, उभाड़ और आवेश से हमारा बेड़ा पार न होगा। हमारा सारा जोश-खरोश जबतक हमारे कार्यों में प्रतिबिंबित न होगा तब-तक रामराज्य आसमान से नही उतर पड़ेगा। हमें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न काम चुनकर उनमें अपने जीवन का बहुमूल्य समय लगाना होगा। अनुशासन में बंधकर हमें अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होगा। अर्जुन को जैसे मत्स्यवेध करते समय सिर्फ मछली की आंख की पुतली दिखाई देती थी, वैसी एकाग्र-साधना करनी होगी। देश के कोने-कोने में, जहां जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार, रामराज्य का जीवनदायी संदेश पहुंचाना होगा।

इसके लिए सबसे बड़ी अमली बात यह है कि प्रत्येक सेवेच्छु नीचे लिखी बातों का निर्णय करे और जो सलाह दी गई है उसपर ध्यान दे।

१. रचनात्मक, आंदोलनात्मक, संगठनात्मक, प्रचारात्मक, प्रशासनात्मक इनमें से किस कार्य में उनकी विशेष रुचि है, और किसके योग्य वह अपनेको अधिक समझता है ?

२. किस संस्था या संगठन के द्वारा काम करने का उत्साह रखता है ?

३. यदि स्वतंत्र रूप से ही काम करना हो तो अपने साथी, सहायक आदि को पहले तैयार करके काम शुरू करे।

४. यह भी देख लें कि शहर में काम करना है या गांवों में। अब गांवों में काम करने की ज्यादा जरूरत है।

५. यदि विवाह हो गया है तो अपनी पत्नी को सच्चे अर्थ में अपनी सहयोगिनी बनाने का काम तुरंत शुरू कर दें, अर्थात् उसकी शिक्षा और प्रकृत-कार्य में उपयोगिता और योग्यता बढ़ाने का उपाय करे।

६. अपनी आवश्यकताएं सीमित रखें, और सिर्फ दाल-रोटी पर आनंद और मस्ती के साथ गुजर करने का प्रण करके इस मार्ग में कदम बढ़ावें।

७. मजदूरों में काम करना हो तो पहले किसी अच्छे मजदूर-संघ में काम करके उसकी तालीम ले लें।

८. खादी पहनने का निश्चय करें, सब जातियों में ऐक्य स्थापन करने

की दृढ़ भावना रखें।

९. हर तरह की कठिनाई और खतरे का मुकाबला करने की तैयारी मन में कर लें।

जो इस महान् यज्ञ में अपनी आहुति देना चाहें वे इन बातों का विचार करके ही निश्चय करेंगे तो अच्छा होगा। कच्चे-पोचों के लिए यह मैदान नही है--उन्ही बलि-वीरों के लिए है, जिन्हे रात में भी रामराज्य के सपने आते हों, और इस कल्पना से भी जिनका हृदय उछलता हो कि इस यज्ञ में मेरा सर्वस्व स्वाहा हो जाय।

: ५ :

विद्यार्थी रुख बदलें

देश में इन दिनों अंदर-अंदर एक किस्म की अराजकता-उच्छृङ्खलता के दर्शन चहुं ओर हो रहे हैं। विद्यार्थी भी इससे बचे नही हैं। अभी उन्हीं तरीकों को बरतते जा रहे हैं जो ब्रिटिश-सरकार के समय में बरते जाते थे। वे अपनी ही सरकार के प्रति सीधे चोट या सत्याग्रह से काम लेने लगे हैं, जिसका समर्थन नही किया जा सकता। विदेशी सरकार के प्रति हम जो रुख अबतक रखते थे, उसे अब हमें बदल देना होगा। हमारी अपनी सरकार की भावना तो हमारे प्रत्येक वर्ग की उन्नति व भलाई की ही हो सकती है--हां, अनिवार्य कठिनाइयों से वह जल्दी सफलता न पा सके, यह दूसरी बात है। उन कठिनाइयों को महसूस करके हमें धीरज से काम लेना चाहिए। उसे परेशान करने या कमजोर बनाने की कोशिश करना अपने ही पैरों कुल्हाड़ी मारना है। यदि वह सरकार निकम्मी बन गई हो, भ्रष्ट हो गई हो तब तो उसे बदल देने का अधिकार हमें ही है, किंतु जबतक ऐसी स्थिति नहीं पैदा हुई है, बात-बात में 'सीधी चोट' का अवलंबन करना या तो हमारी विचार-विवेक-हीनता का सूचक है, या सरकार के प्रति विरोधी रुख का। यदि विद्यार्थी विवेक खो देंगे तो वे ही घाटे में रहेंगे और यदि विरोधी

रुख रखेंगे तो कोई भी नागरिक अपनी सरकार के विरोधी को सहन नहीं कर सकता। सरकार तो भला क्यों सहने लगी ?

अतः अब वह समय आ गया है जब विद्यार्थी सरकार के प्रति आंदोलनकारी रवैये को बदलें, रचनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावें, व अपनी आवश्यकताएं तथा मांगें विधि-विहित मार्गों से पूरा कराने का उद्योग करें। जब देश को विदेशियों के पंजे से छुड़ाना था तब तो उनका पढ़ना-लिखना छोड़कर भी आंदोलनों में कूद पड़ना एक हद तक अनिवार्य हो जाता था, परंतु अब उन्हें विद्यार्थी जीवन में एक सच्चा व स्वावलंबी नागरिक बनने के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने का ही उद्योग करना चाहिए। पार्टीबाजी, उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, दुराग्रह, अविवेक व इनको प्रोत्साहन देनेवाली प्रथाओं से उन्हें बचना चाहिए, नही तो वे अपना ही भविष्य खराब करने के कारण बन जायंगे।

: ६ :

यह हल नहीं है

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बनने के समय हमने खुद भी अपनी आंखों से जो भयंकर दृश्य देखे, वे दिल पर यह असर डालते थे कि उस समय पाकिस्तान और हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में मनुष्यता, भाईचारा, स्नेह, दया जैसी कोई चीज नहीं रह गई थी और मनुष्य मानों षड्यंत्र की तरह आंख मींचकर अंधाधुध हत्याकांड में लग गया था। इसमें कोई शक नहीं कि इस जहरीले वातावरण की जिम्मेदारी मुस्लिम-लीग के नेताओं पर है, जिन्होंने हिंदुओं के खिलाफ मुसलमानों में द्वेष और घृणा का प्रचार किया और उन्हें हिंसा-काण्ड के लिए उभाड़ा। जो रोमांचकारी कांड हुए उनसे तो हमारा हिंदू ही नहीं, हिंदुस्तानी ही नहीं, मानव-हृदय भी थर्रा उ ता है। कभी शंका होती है कि जिन्नासाहब अंग्रेजों से मिलकर हिंदुस्तान

के खिलाफ गहरी साजिश तो नहीं कर गये ! कभी खयाल होता है कि माउण्टबेटन साहब ने जल्दी-जल्दी विभाजन करके हम लोगों को बेवकूफ तो नहीं बना दिया और दोनों को बुरी तरह से लड़ाकर यह साबित करना तो नहीं चाहते थे कि अंग्रेजों की शक्ति और सहायता के बिना हिंदुस्तान और पाकिस्तान में शांति कायम नहीं रह सकती। लेकिन मन में यह सवाल उठता है कि दोष बेवकूफ बनानेवालों का या बननेवालों का ? हम हिंदू और मुसलमान अंग्रेजों के हथियार बने ही क्यों ? और आगे विचार करने पर यह खयाल कमजोर दिमाग की उपज मालूम होता है। निर्बल बुद्धि सदा दूसरे को दोष दिया करती है । यदि हिंदुस्तान में मुसलमानों की ज्यादा तादाद बन गई तो उसके दोषी हम हैं । यदि अंग्रेज हिंदुस्तान में आ घुसे तो उसकी जिम्मेदारी हमपर है । यदि अंग्रेज हिंदू-मुसलमानों को लड़ाने में या खून-खच्चर कराने में कामयाब हो गये तो इस दोष के भागी हम हैं । जिस दिन यह भाषा हम बोलने लग जायंगे उस दिन इनसब कठिनाइयों में से सही रास्ता हमको मिल जायगा ।

अभी तो हमने खून की होली इस तरह खेली कि समझ, विवेक और दलील की कोई पहुंच हमारे मन तक नहीं हुई । खून तो हमारा भी खौलने लगता था और क्यों न खौलता ? परंतु महज खून खौलने से या बदला लेने और लेते रहने से क्या यह समस्या हल हो जायगी ? क्योंकि हमें अंधा-धुंध बहे जाना तो है नहीं । एक निश्चित योजना के अनुसार एक निश्चित परिणाम निकालना है। जितना भी हिंदुस्तान हमारे पास बच रहा है उसे सुदृढ़, शक्तिशाली, तेजस्वी, प्रगत और उन्नत बनाना है। रोजमर्रा की मार-धाड़ अंधा-धुंधी से तो नहीं बन सकता। कभी तो इसे रोकना और बंद करना ही पड़ेगा । अच्छा, पाकिस्तान से दो करोड हिंदू मर-कट-कर या बचकर हिंदुस्तान में चले आये और उसके विशाल उदर में समा गये । इससे पाकिस्तान तो सुदृढ़ हो गया, पर क्या हिंदुस्तान की समस्या हल हो गई ? यहां के पांच करोड़ मुसलमानों का क्या करोगे ? यदि उन्होंने अपनेको हिंदुस्तान का नागरिक बना लिया और सचमुच बना लिया, तब

तो कुछ समस्या नहीं रही। पर क्या यहां मुसलमानों की मार-काट करने से वे हिंदुस्तान के नागरिक बन जायंगे, और मारे डर के बन भी गये तो कितने दिन तक ? हां, पांच करोड़ को कत्ल कर सको तो बात दूसरी। परंतु इस कल्पना से तो सामने अंधकार-ही-अंधकार दीखता है। करोड़ों के रक्त में नहानेवाले हिंदू-राष्ट्र का इतिहास में क्या स्थान होगा ? इससे हिंदू-संस्कृति, हिंदू-आदर्श की उच्चता और श्रेष्ठता कितनी सिद्ध होगी ? जब यह सवाल सामने आता है तो होश ठिकाने आने लगता है। बदले और प्रतिहिंसा से काम चलता नहीं दीखता। जोश और आवेग को रोककर ठंडे दिमाग से काम लेने की जरूरत महसूस होती है। आत्म-रक्षा एक बात है, बदला लेना दूसरी बात है। और यदि बदला ही लेना है तो हमारी सरकार बदला लेने के लिए काफी है। हिंदुस्तान के लोगों को चाहिए कि उसकी जिम्मेदारी अपनी सरकार पर छोड़ दें। उसे पहले अपने तरीके आजमाने का पूरा मौका दें। वह असफल होगी तो अपने-आप बदला लेने की स्थिति में आ जायगी। खून-खच्चर से हमारे मन को थोड़े समय के लिए भले ही संतोष हो जाय, परंतु उससे हिंदुस्तान की विकट समस्या हल नहीं हो सकती। वह तो सरकार का काम सरकार को करने देने से ही होगी। यदि सरकार का कानून हम अपने हाथ में लेने लगेंगे तो हम ऐसी अंधेरी खोह में जाकर गिरेंगे, जिसपर लिखा है 'बरबादी, सत्यानाश'। यदि हम शांति और उसके फलस्वरूप उन्नति चाहते हैं तो हमें प्रतिहिंसा और अंत में हिंसा भी छोड़नी पड़ेगी। आज की यह अराजकता कुछ समय तक चलती रही तो फिर अंग्रेजों की शरण लो, या किसी जबर्दस्त शक्ति की गुलामी मंजूर करो। यदि यह प्रिय नहीं है तो अपने फर्ज को अदा करो और नेहरू-सरकार को पूरा मौका देकर इस कठिन समस्या में उसके हाथ मजबूत करो।

: ७ :

असली काम

कई राज्य टूटकर बड़े-बड़े राज्य बन गये हैं। यह भारी काम हुआ। परंतु सच पूछिये तो असली काम का समय अभी आया है। ऊपरी ढांचा ठीक-ठाक हो जाने से काम नही चलेगा। बल व संगठन भी बढ़ाना है। हमारा भीतरी बल है हमारे नेताओं, कार्यकर्त्ताओं व साथियों का उच्च आदर्श जीवन, उत्कृष्ट चारित्र्य, व्यवहार-दक्षता, अनुशासन-प्रियता व कार्य-कुशलता। व्यक्तिनिष्ठा, संस्थानिष्ठा व तत्वनिष्ठा––तीनों निष्ठाओं का समुचित सम्मेलन उनके जीवन में होना चाहिए। व्यक्ति-निष्ठा का मतलब है अपने नेताओं के प्रति आदर व वफादारी, उनकी इज्जत हमारी इज्जत, उनकी बदनामी हमारी बदनामी, यह भावना। संस्था-निष्ठा का अर्थ है अपने व्यक्तित्व से संस्था को बड़ा मानना, संस्था के निर्णय से अधिक महत्व अपनी व्यक्तिगत सम्मतियों को उस संस्था के काम में न देना, ईमानदारी से उन निर्णयों पर अमल करना व कराना। तत्वनिष्ठा का मतलब है––जिस आदर्श या सिद्धांत पर हमारी संस्था या जीवन खड़ा है उनके प्रति लगन, दृढ़ता, भक्ति, आस्था तथा अविचलता। व्यक्तिनिष्ठा से संस्थानिष्ठा की ओर व तत्वनिष्ठा की ओर जाना प्रगति का लक्षण है, क्योंकि ये तीनों निष्ठाएं एक-दूसरी से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। हमें इस सफलता के अवसर पर यह कदापि न भूलना चाहिए कि हमारी यह भीतरी शक्ति व शुद्धि ही हमें अपनी बाहरी शक्ति, विरोधियों से लड़ने व विजय पाने का बल, उत्साह नया तेज प्रदान करती है। जितना ही अधिक यह भीतरी बल हमारे पास होगा उतने ही कम बाहरी साधन हमारे लिए आवश्यक होंगे।

इन गुणों की वृद्धि व इन शक्तियों को प्राप्त करने के लिए जो बहु-मुखी राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यक्रम देश के सामने है वह रामबाण साधन है। भले ही विनोबा उसे 'भूदान' के नाम से चलावें, सरकार विकास-कार्य के नाम से, काम हमें निर्माण का––रचना का ही करना है।

: ८ :

नवयुग का प्रतीक

बापू के बाद उनके रचनात्मक कार्यो के नेतृत्व का सवाल जब देश-सेवकों के सम्मुख उपस्थित हुआ तो प्रायः सबकी निगाहें विनोबाजी पर ही जाकर रुकीं। मगर किसीको यह पता न था कि इतने से वर्षो के अंदर विनोबाजी ऐसा चमत्कार दिखा देगे जैसाकि उस युग में अक्सर बापू ने दिखाया। देश के स्वतंत्र होने के बाद बापू के समय मे ही और बापू के बाद तो और भी ज्यादा यह धारणा राजनैतिक लोगो में जड पकड़ती जाती थी कि जो योग्य व्यक्ति थे वे कांग्रेस के संगठन और शासन में जगह-जगह चस्पा होगये, खप गये, और जो अयोग्य या शक्तिहीन थे वे रचनात्मक कामो का बहाना लेकर चर्खा कात रहे है। विधानसभाओं मे अथवा कांग्रेस-संगठन मे किसी ऊंची पद-प्रतिष्ठा की जगह पा लेना योग्यता और शक्ति का लक्षण माना जाता था और रचनात्मक कार्य मे लगे हुए लोग तुच्छ दृष्टि से देखे जाने लगे थे और निकम्मो में उनकी गिनती होने लगी थी। खुद उनमें भी धीरे-धीरे निराशा, असमजसता, दुविधा व चिता के भाव फैलने लगे थे। यह देखकर मै अक्सर कहा करता था कि बापू के अनुयाइयो में जो शासन मे चले गये है, उन्होंने अपनेको कांटोभरी सेज पर, सुलाया है और जो रचनात्मक कामों में लगे हुए है उन्होंने अपने-आपको जिंदा कब्र में गाढ़ दिया है। मगर फिर भी सबकी आखें विनोबाजी की ओर आशा से देख रही थी। बापू के निधन के बाद ही विनोबा ने अपनी प्रिय एकांत-साधना छोड़कर भारत-यात्रा का कार्यक्रम आरंभ कर दिया और दो ही वर्ष के बाद तैलंगाना में उन्हें एकाएक एक स्फूर्ति हुई, जिसे ईश्वरी संकेत या संदेश कह सकते है, जिसने भूदान-यज्ञ का रूप ग्रहण किया। वह १८ मार्च का दिन था। वह एक नवीन युग के प्रवर्त्तन का दिन था, भले ही उस समय किसीको उसका भान न हुआ हो। तीन वर्ष बाद सर्वोदयपुरी (गया) में हमने देखा कि सर्वोदय-सम्मेलन में जितने भी कार्य-

कर्ता एकत्र हुए थे उनके चेहरों पर उत्साह, आत्मविश्वास और निश्चय की झलक दिखाई पड़ती थी । भूदान-यज्ञ का प्रारंभ भले ही भूमि-समस्या को सुलझाने के लिए हुआ, परंतु आज वह एक नवीन समाज-रचना (शोषण-हीन, शासनरहित) अर्थात् सर्वोदय-समाज-रचना का मध्य-बिंदु या केंद्र बन गया है ।

जब अंग्रेजों से लड़ाई थी तब हम लोग आपस के सब भेदभाव को भूल कंधे-से-कंधा भिड़ाकर बड़े जोश से मस्त और मतवाले होकर तिरंगा झंडा हाथ में लेकर तरह-तरह के नारे और गीत गाते हुए लड़ाई के मैदान में आगे बढ़ते जाते थे । स्वतत्रता प्राप्त करने की इतनी जबरदस्त प्रेरणा थी कि कोई भी बड़ी-से-बड़ी कठिनाई और संकट हमारा मार्ग नही रोक सके । लेकिन हमने देखा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब प्रत्यक्ष राज्य-संचालन की जिम्मेदारी हमपर आई, नवसमाज-निर्माण की सत्ता और सुविधा हम को मिली, तो हमारा उत्साह और लगन ठंडे पड़ गये और पद, सत्ता तथा प्रतिष्ठा के विवादों में हम अपने-आपको उलझाने और निर्बल बनाने लगे । यह देखकर दिल टूक-टूक होता था । कई बार मेरे मन में प्रश्न उठा कि क्या नवीन समाज, नवीन राष्ट्र के निर्माण की कल्पना हममें जोश और लगन नहीं पैदा कर सकती ? क्या हमारी केवल अंग्रेजों से ही शत्रुता थी ? या पद और सत्ता के ही भूखे थे जो हम उन्हें लेकर तृप्त हो गये ? रचनात्मक काम, जो समाज के नवनिर्माण की बुनियाद है, क्यों नही हमको उस तरह प्रेरित करते और मतवाला बनाते जैसा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व करते थे ? मालूम होता है, बापू के बाद इसके लिए एक नेता की कसर थी, जो विनोबा के रूप में पूर्ण होगई ।

मेरा यह विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ़ होता जाता है कि बापू की विभूति भारत के दो महान पुरुषों में बंट गई या स्पष्ट रूप से सामने आ रही है । एक जवाहरलालजी और दूसरे विनोबाजी । राजनीतिक क्षेत्र में जवाहर-लालजी और रचनात्मक क्षेत्र में विनोबाजी । जब पहला सत्याग्रही बापू ने विनोबा को चुना तो उनके जीवनादर्श की पूर्ति के लिए आगे चलकर सबसे

बड़ा साधन कौन हो सकता है, इसका चुनाव उन्होंने कर लिया। जब जवाहरलाल कई बार कांग्रेस के सभापति बनाये गये तो अप्रत्यक्ष रूप से बापू ने यह जाहिर किया कि स्वराज्य-संचालन की जिम्मेदारी जवाहरलाल पर आनेवाली है और बाद में तो उन्होंने उन्हें अपना राजनीतिक वारिस घोषित ही कर दिया और इसमें कोई शक नहीं कि दोनों अपने राष्ट्रपिता के योग्य, कुशल तथा आदरणीय वारिस सिद्ध हो रहे हैं। जवाहरलाल ने अपने महान निष्कपट और न्यायपूत व्यक्तित्व की छाप सारे संसार पर डाली, जबकि विनोबा भारत के अंदर नवीन समाज-रचना की बुनियाद डाल रहे हैं। दोनों मिलकर जिस खूबी से बापू के उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए हैं, इसका अनुमान पहले इतना नहीं होता था। दोनों का परस्पर स्नेह और आदर दोनों की महानता के साथ ही जय-विजय की जोड़ी की तरह सुदर लगता है।

: ९ :

भूदान की गंगोत्री

विनोबाजी का चिंतन भूदान से ग्रामदान और भूमि-स्वामित्व-विसर्जन तक पहुंचा है। इधर संपत्तिदान समाजीकरण के रूप में परिणत हुआ है, अर्थात् किसानों से वे कहते हैं कि भूमि पर से स्वामित्व छोड़ो और मजदूरों व अन्य नागरिकों से कहते हैं कि तुमको जो कुछ मिला है वह समाज की कृपा से मिला है, अतः उसपर तुम्हारा नहीं, समाज का अधिकार है। इसलिए तुम उसपर से स्वामित्व-अधिकार छोड़ो। जो कुछ है वह समाज के अर्पण करो और फिर समाज तुम्हारी सेवा या पात्रता के अनुकूल जो कुछ तुमको दे, उसे ग्रहण करो और उसमें संतुष्ट रहो, लेकिन चूकि तुम्हारे मन की इतनी तैयारी होने में देर लग सकती है, इसलिए तबतक तुम अपनी आमदनी का कम-से-कम छठा भाग समाज को देते रहो और धीरे-धीरे समाज-समर्पित हो जाने की कोशिश करते रहो। सारांश यह कि उनका

सारा आंदोलन शुद्ध समाजीकरण का आंदोलन है। इस क्रांति के लिए उनकी योजना यह है कि शीघ्र ही कोई ऐसी योजना तैयार की जाय जिसके अनुसार भारत के सब ग्रामवासी किसी एक निश्चित दिन यह निश्चय प्रकट करें कि उन्होंने अपनी निजी जमीन पर से स्वामित्व छोड़ दिया है और गांव की सारी जमीन का फिर से समुचित बंटवारा हो जाय। इसमें वे भारत के सभी नागरिकों, सभी राजनीतिक पक्षों, सभी समाजों और सम्प्रदायों का सहयोग चाहते हैं। पिछले दिनों उड़ीसा में ८०० समूचे ग्राम दान में मिले हैं। वहां सर्वोदय की दृष्टि से ग्राम-रचना करना चाहते हैं। उसके लिए अण्णासाहब सहस्रबुद्धे, जो सर्व-सेवा-संघ के मंत्री थे, जिम्मेदार बनाये गये हैं और उनके मार्ग-दर्शन में कोकापुर में अच्छा प्रयोग चल रहा है।

विनोबाजी स्वयं तंत्र में बंधे नहीं हैं, न बंधना चाहते हैं। वह मानते हैं कि आजकल तंत्र का अर्थ है बहुमत का शासन, जिसमें अल्पमत पर दबाव पड़ता है और यह हिंसा का चिह्न है। इसलिए यदि तंत्र चलाना ही पड़े तो वह ऐसा हो जिसमें सर्वसम्मति से सब काम हो। इस दृष्टि से उनके पास कोई तंत्र माना ही जाय तो वह 'सर्व सेवा संघ' है।

संपत्ति-दान का काम अबतक पूज्य जाजूजी और जयप्रकाश नारायणजी मुख्य रूप से करते रहे। अब जाजूजी के बाद यह जिम्मेदारी जयप्रकाश नारायणजी पर आ गई है। संपत्तिदान के सिलसिले में जयप्रकाशजी ने एक बात बड़े मार्के की कही है और वह यह कि मजदूर भी अपना अधिकार छोड़ें। आज वे मालिकों से तो कहते हैं कि अपना अधिकार छोड़ो, लेकिन वे खुद भी तो एक छोटे मालिक बने हुए हैं। आज मालिकों के स्वामित्व-अधिकार छोड़ने का अर्थ यह होगा कि हजारों की तादाद में छोटे-छोटे मालिक हो जायंगे अर्थात् एक ही जगह अनेक मालिक हो गये। यह स्वामित्व का वितरण हुआ, विसर्जन नहीं। अतः मजदूरों को भी स्वामित्व की भावना छोड़नी चाहिए। तब मालिकों से की गई उनकी मांग सच्ची, न्याययुक्त और जोरदार बनेगी। जयप्रकाशजी की इस बात को सहसा काटना मुश्किल है। यदि समाजीकरण ही हमारी सब कठिनइयों

और समस्याओं का हल है तो छोटे और बड़े सभी स्वामियों को अपना अधिकार छोडना होगा। "सब संपत्ति समाज की है। यह सृष्टि भगवान की है, इसमें व्यक्ति का अपना कुछ नहीं है।" ऐसे सिद्धांत का खंडन मुश्किल मालूम होता है। इस प्रकार समाज-समर्पित हो जाने से व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भी खो जायगा, यह डर अवश्य है। इस दृष्टि से मुझे पूज्य बापू का यह समन्वय अच्छा लगता है कि समाज-रचना ऐसी हो, जिसमें व्यक्ति के चरम उत्कर्ष की सुविधा हो और विकसित और समुन्नत व्यक्तित्व समाज के समर्पित हो।

: १० :

शांति की दिशा में

विश्व-शांति और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों को पूना की राष्ट्रीय अकादमी में आयोजित एक भोज में चीन के प्रधान मंत्री श्री चाउ एन लाई द्वारा दिये गये उस भाषण से बड़ी प्रसन्नता होगी, जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"दुनिया में आज दो प्रकार की सेनाएं हैं—एक वे जिनका प्रयोग आक्रमण और साम्राज्य-विस्तार के लिए किया जाता है, और दूसरी वे, जो आत्मरक्षा के लिए हैं। भारत व चीन की सेनाएं आत्मरक्षा के लिए हैं, आक्रमण के लिए नही।" इसी सभा में श्री चाऊ ने अपना यह विश्वास दोहराया था कि जो सेनाएं आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाती हैं, और जो दलित, पीड़ित और शोषित मानवता की ओर से संघर्ष करती हैं, अंततोगत्वा उन्हीकी विजय होती है।

जनवादी चीन जैसे एक महान राष्ट्र के प्रधान मंत्री के मुह से निकले ये उद्गार युद्ध और हिंसा की विभीपिका से त्रस्त विश्व को अवश्य कुछ राहत पहुंचायंगे। इन शब्दों में शांति की हार्दिक इच्छा है। आज के बहुत-से राजनीतिज्ञों की तरह उनके नाम पर अपना मतलब सीधा करने की

मनोवृत्ति नहीं है। अतः हम उनके उद्‌गारों का स्वागत करते हैं।

श्री चाऊ के इन विचारों का पूरा आदर करते हुए भी एक प्रश्न उठ आता है और वह यह कि क्या दुनिया की शांति के लिए इतना पर्याप्त है? क्या अपनी सेनाओं को रक्षात्मक बनाकर हम संतोप की सांस ले सकते हैं? उत्तर स्पष्ट है, "नही", क्योंकि यदि कोई आक्रामक आक्रमण कर देता है, तो हमें बचाव के लिए युद्ध करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यद्यपि युद्ध हमारी ओर से प्रारंभ नही किया जायगा, तथापि वह शांति की निश्चित गारंटी नही है।

श्री चाऊ का आशय शायद यह है कि हमारी सेनाएं शक्ति-संतुलन के लिए हैं। उनके अस्तित्व से दुश्मन हमेशा दबे हुए रहेंगे और यदि वे दबे हुए न भी रहे तो यकायक हमला करने का साहस तो नहीं ही करेंगे। एक बड़े देश के प्रधान मंत्री के नाते उनके ये विचार सावधानी के सूचक हैं, किंतु वे शांति का राजमार्ग नहीं दिखाते, क्योंकि विनोबाजी के शब्दों में सेनाएं रखकर युद्ध मिटाने की बात करना आग से आग बुझाने की बात करना है। हिंसा से हिंसा मिटाने के ऐसे प्रयत्न तो दुनिया में कई बार पहले भी हो चुके हैं, किंतु बार-बार उन्हें असफल ही होना पड़ा है।

यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो आजकल आक्रमणात्मक युद्ध और रक्षात्मक युद्ध में कोई अंतर नहीं रहा है। नाम चाहे आक्रमणात्मक हो, चाहे रक्षात्मक, होता युद्ध ही है और युद्ध के साथ जो विनाश एवं विध्वंस जुड़े हुए हैं, उनके प्रभाव में कोई खास अंतर नहीं पड़ता।

शांति के उपायों की खोज करते समय हमारा ध्यान राष्ट्रसंघ की ओर बरबस खिच जाता है। राष्ट्रसंघ दुनिया के सभी प्रश्नों को बातचीत, समझौते और सलाह-मशविरे से हल करना चाहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंसा से हिंसा मिटाने जितना बेढंगा प्रयत्न यह नहीं है। फिर भी इस प्रयत्न में सफलता के फल जल्दी ही लगते हुए दिखाई नहीं देते। पहली बात तो यह है कि राष्ट्रसंघ में चीन-जैसे कुछ राष्ट्रों को स्थान ही नहीं दिया गया है। दूसरे, जिन राष्ट्रों की तूती वहां बोलती है, वे एक-दूसरे को भला

समझते ही नहीं हैं। वे बातचीत अवश्य करते हैं, लेकिन एक-दूसरे को धूर्त और ठग समझकर। अत: पारस्परिक विश्वास के अभाव में राष्ट्रसंघ भी उद्देश्य-पूर्ति की दिशा में आगे नही बढ़ रहा है।

आज दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि स्थायी रूप से शांति की स्थापना करने के लिए दुनिया के भले लोगों को अलग-अलग देशों में जाकर कुछ अच्छे काम करने की जरूरत है। उनका कहना है कि यदि एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के साथ मित्रता स्थापित करे, स्नेह-संबंध जोड़ें और उनकी सेवा करें तो अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा करने में बड़ी सहायता मिलेगी। यह विचार बहुत अंश में अच्छा है, लेकिन प्रश्न होता है कि युद्ध हुआ तो ऐसे लोग क्या करेंगे ? उनकी सदिच्छाएं कैसे कार्यरूप में परिणत होंगी, इसका स्पष्ट चित्र सामने नही है।

हमारी राय में आज आवश्यकता इस बात की है कि युद्ध न करने का निश्चय दृढ़तापूर्वक किया जाय, किंतु निश्चय-मात्र से ही युद्ध बंद नही हो जायगा। उसके लिए एक निश्चित योजना, कार्यक्रम और तंत्र खड़ा करना पड़ेगा। उसके आसार कही नजर नहीं आते है। गांधीजी ने अलबत्ता अहिंसात्मक प्रतिरोध का मार्ग दिखाया है, किंतु युद्ध बंद करने पर उसका खास असर नही हो पाया। भारतवर्ष आजाद अवश्य हो गया और उसने पंचशील के द्वारा सारे विश्व में शांति की हवा पैदा कर दी, किंतु इससे आगे वह भी नही बढ़ पाया।

इसमें कोई संदेह नही कि अहिंसात्मक प्रतिकार का मार्ग बड़ा उपयोगी है। युद्ध की सफलता जहां विरोधी या प्रतिपक्षी को अधिक-से-अधिक कष्ट देने या विनष्ट कर देने की शक्ति में है, वहां अहिंसक प्रतिकार की सफलता स्वयं सबसे अधिक कष्ट, यंत्रणा, हानि के सहन करने में है। हिंसात्मक युद्ध का उद्देश्य है प्रतिपक्षी को दबाना, जबकि अहिंसक युद्ध का उद्देश्य है स्वपीड़न एवं स्वमरण के द्वारा विरोधी का हृदय-परिवर्तन। इस कार्य को अधिक संगठित एवं व्यवस्थित रूप से करने के लिए अहिंसक प्रतिकार में विश्वास रखनेवाले लोगों की एक सेना ही बनानी पड़ेगी।

हमारी दृष्टि में युद्ध से त्राण पाने का वही एकमात्र प्रभावशाली मार्ग होगा। यदि आज के उन्नत कहे जानेवाले राष्ट्र हिंसक शस्त्रास्त्रों एवं सेनाओं के भारी एवं आत्मघाती बोझ से मुक्त होकर शांति-सेना तैयार करने का प्रयत्न करें तो दुनिया का अधिक लाभ होगा। उससे जहां उसका नैतिक बल बढ़ेगा, वहां शस्त्रास्त्रों और सेनाओं पर खर्च होनेवाला अरबों रुपया नव-निर्माण और जन-कल्याण के कार्यों में लगेगा। फिर अशांति के बहुत-से बीज मूल रूप में ही नष्ट हो जायंगे।

प्रश्न उठ सकता है कि यह बात कहने में जितनी सुंदर लगती है, उतनी व्यावहारिक रूप में नहीं है। हमारा विनम्र निवेदन है कि युद्ध और हिंसा के रास्ते में जितना खतरा है, उससे बहुत कम खतरा इसमें है। उसमें भी तो लोगों की जान जाती ही है, फिर इसमें कुछ लोगों को मर जाना पड़े तो हमें चिंतित नहीं होना चाहिए। युद्ध, मृत्यु, घृणा, विद्वेष और वैमनस्य का विषैला धुआं फैलता है, जो वर्षों तक वातावरण को विषाक्त बनाये रखता है। किंतु अहिंसात्मक प्रतिकार की मृत्यु एक ऐसा प्रकाश फैलाती है, जो हृदय की आंख खोल देता है। उस प्रकाश में पक्ष और विपक्ष दोनों ही अपना सही मार्ग पहचानकर उसपर चलने का बल पाते हैं।

मान लीजिये कि किसी अहिंसक देश पर आक्रमण हुआ और हिंसक शक्ति से उसे अधीन कर लिया गया, किंतु वह आधिपत्य की गाडी उस देश के सहयोग और सद्भावना के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगी। उसे पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और अंत में वहां से जाना पड़ेगा। यह अहिंसक युद्ध की विजय होगी, भले ही देर से हो।

इस प्रयत्न को और व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रत्येक प्रांत, जिले और नगर-ग्राम में शांति-दलों का संगठन उपयोगी होगा। ये शांति-दल स्थानीय प्रश्नों को अहिंसक तरीकों से हल करने में बड़े लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। जब भी कभी दो दलों में किसी प्रश्न को लेकर कोई झगड़ा खड़ा हो जाय तो ये शांति-दल वहां पहुंचकर उन्हें समझाने-बुझाने और समझौता कराने का प्रयत्न करें। यदि संबंधित दल इसे स्वीकार न करें

और लड़ाई-झगड़े के लिए तैयार हो ही जायं तो बीच-बचाव करें, उन्हें लड़ने न दें और अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी लड़ाई को रोक दें। इस प्रकार देश में आंतरिक शांति स्थापित करने में स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान हमारे लिए स्फूर्तिदायक हो सकता है। परंतु वह एक आकस्मिक बलिदान था। हमें संयोजित, संगठित और व्यवस्थित बलिदान करना है। इसलिए एक सेना खडी करनी होगी। दूसरा उदाहरण है मुरारजी देसाई का, जो आंतरिक शांति में सहायक सिद्ध हुआ।

इस रास्ते से जनता का नैतिक स्तर ऊंचा होगा, सत्य और अहिंसा में उनका विश्वास दृढ़ होगा और अंततोगत्वा वह शांति की मजबूत बुनियाद का काम देगा। जन-जागरण और जन-कल्याण की दिशा में भी यह एक बहुत बड़ा कदम होगा। क्या शांति और सद्भावना में विश्वास रखनेवाले लोग इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करेंगे?

: ११ :

योजना चाहिए

युद्ध या शांति यह प्रश्न अब राज-नेताओं या युद्ध-नेताओं के भी विवाद या बौद्धिक मंथन की समस्या नही रह गया है। सब मानने लगे हैं कि शांति सब काल में अच्छी है, और समाज, शासन तथा संसार की सब मानवी समस्याएं शांति के द्वारा हल होनी चाहिए, इस तरह विचार दौड़ने लगे हैं। इसमें कठिनाई या कसर यह है कि राष्ट्र-नेता परस्पर डर रहे हैं कि यदि एक ने साहस करके कदम आगे बढ़ा दिया तो कही दूसरा उसे शस्त्रबल से दबा न दे। इस डर से शस्त्रास्त्र या सेनाबल कम करने मे हिचकते हैं। पिछले एक साल से रूसी नेताओं के सुझावों और व्यवहार से मालूम होता है वे कि सच्चे दिल से शांतिवादी ही नही, शांति-प्रिय भी हो रहे हैं।[1] इसके दो उदा-

[1] **उन्होंने हाल ही में आणविक अस्त्रों के परीक्षण की एकपक्षीय समाप्ति की घोषणा करके इसकी पुष्टि की है।**

हरण ध्यान देने योग्य है—एक तो रूस के प्रधान मंत्री का यह सुझाव कि विश्व के बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया जाय, उसमें निःशस्त्रीकरण का एक कार्यक्रम रखा जाय। दूसरा श्री ख्रुश्चेव का पोलैंड-संबंधी भाषण, जिसमें उन्होंने घोषणा की है कि यदि पूंजीवादी राष्ट्र यूरोप के दूसरे देशों से अपनी-अपनी सेनाएं हटा लें तो रूस अपनी सेनाएं हटाने के लिए तैयार है। हंगरी में हाल ही में रूस की सेनाओं ने जो भाग लिया है, उसपर आपत्ति की गई है और उसीसे उत्पन्न प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा ख्रुश्चेव ने की है। इधर अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहोवर ने भी मिस्र पर किये गये ब्रिटेन और फ्रास द्वारा सम्मिलित हमले के सिलसिले में जो रुख धारण किया उससे युद्ध की आग को न भड़कने देने में ही मदद मिली है। इस समय रूस और अमरीका दोनों के नेताओं के हाथ में ही सारी बाजी है। इस शांति-साधना में भारत का अपना विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है, किंतु वह उस दिशा में वातावरण बनाने से अधिक प्रत्यक्ष कुछ करने की स्थिति में नहीं है। क्या अच्छा हो कि पं० नेहरू आइजनहोवर तथा ख्रुश्चेव को नजदीक लाने में सहायक हो जायं! शांति का यह महान् कार्य इन दोनों राष्ट्रों के महान नेताओं के बीच परस्पर विश्वास कायम होने से ही सिद्ध हो सकता है। दोनों पक्ष के नेता महान सैनिक नेता भी हैं। जिस तरह भय के साधनों का इस्तेमाल ये सफलता के साथ कर सकते हैं उसी तरह सहयोग और शांति के साधनों को अपनाने में भी इन्हें कठिनाई न होनी चाहिए। शांति के महान् अग्रनेता बुद्ध, महावीर, अशोक सैनिक जाति के ही थे, जिन्होंने हिंसा-बल की तुच्छता को स्वीकार किया और अहिंसा-बल की श्रेष्ठता का प्रचार किया। इस समय भी इतिहास की यह पुनरावृत्ति हो सकती है।

परंतु मिस्र और हंगरी में जो लड़ाई की स्थिति पैदा हुई उसने संसार में नये महायुद्ध का खतरा सामने ला दिया है। मिस्र में ब्रिटेन और फ्रांस ने मिलकर तथा हंगरी में रूस की सेना ने तहलका मचा दिया। यद्यपि दोनों जगह समस्याएं अलग-अलग हैं, तो भी संसार के लिए उसका परिणाम एक

ही है--नये युद्ध की--संसार की शांति भंग की आशंका। फिर भी बाद में भारत के स्वतंत्र, निष्पक्ष, निर्भय, शांतिवादी रुख ने तथा दूसरे देशों की प्रेरणा से यू. एन. ओ. ने जो समयोचित हस्तक्षेप किया उससे स्थिति में कुछ अंतर जरूर पड़ा है--युद्ध का डर कुछ कम हुआ है, किंतु अभी चिंता दूर नहीं हुई है। हमें तो विश्वास यही हो रहा है कि रूस और अमरीका दोनों के भाग्य-विधाता युद्ध नहीं, शांति ही चाहते हैं। इधर-उधर कुछ स्थितियों से मजबूर होकर या उनसे लाभ उठाने के लिए छुट-पुट हमलों द्वारा भय या दबाव-नीति का अवलंबन जरूर किया जा रहा है; परंतु हृदय से कोई नही चाहता कि कोई भीषण युद्ध हो। लेकिन यदि रास्ता युद्ध का ही अपनाते रहे, शस्त्रास्त्रों और सेना की तैयारी पर ही जोर रहा, शांति की तरफ कुछ व्याख्यानों, प्रस्तावों, अपीलों, पंचशील जैसी प्रतिज्ञाओं के अलावा आगे बढ़ने की ठोस योजना या कार्यक्रम नही बनाया तो, सबके न चाहते भी, महायुद्ध प्रत्यक्ष हो सकता है। इस दृष्टि से विश्व-शांति के लिए श्री ख्रुश्चेव ने तथा मा० बुलगानिन ने जो व्यावहारिक सुझाव रखे हैं, उनपर, और उस दिशा में विचार होना जरूरी है।

चूकि यह शांति की आवाज सबसे पहले भारत से उठी है, उसीके मुख्य प्रयत्न से संसार आज शांति की समस्या को व्यावहारिक मानने लगा है। ऐसी योजना और कार्यक्रम बनाने का भार भी भारत पर ही पड़ जाता है। इसके मर्म और महत्व को भारत ने जितना अच्छी तरह समझा है, जिस खूबी और दृढ़ता से उसके नेता ने संसार में इसे रखा और फैलाया है, उससे संसार में भारत की प्रतिष्ठा, प्रभाव और महत्व बढ़ा है और एक नई आशा का संचार हुआ है। ऊपर से शासनिक क्षेत्र में, अंतर्राष्ट्रीय जगत में, अमरीका, रूस और भारत मिलकर शांति-स्थापना का बीड़ा उठावें, इधर नीचे से विनोबाजी तमाम गांधी-पंथियों तथा शांतिवादियों को लेकर आगे बढ़ें तो हम अपने ध्येय के निकट जल्दी पहुंच सकते है।

हम देखते हैं कि आज भारत तथा भारत के बाहर बहुत-सी संस्थाएं, संगठन, व्यक्ति शांति का नारा बुलंद कर रहे हैं। इससे शांति की एक हवा

तो फैलती है—एक शक्ति तो उत्पन्न होती है; परंतु निश्चित योजना और कार्यक्रम के अभाव में, उस शक्ति से लाभ नही उठाया जा सकता। यह आवश्यक नही कि कोई अखिल भारतीय संस्था ही खड़ी हो, अलग-अलग राज्यों में, या किसी एक राज्य में इसका प्रयोग किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा भारत में अभी भीतरी शांति-रक्षा का प्रश्न भी तो वैसे ही खड़ा है। आएदिन के उत्पात और उपद्रवों को रोकने के लिए छोटे-छोटे दल बनाये जा सकते हैं। इस दिशा में जोर के साथ सोचने और उत्साह के साथ कुछ करने की बहुत आवश्यकता है।

: १२ :

अपनी ओर देखें

कांग्रेस मुख्यतः राजनीतिक संगठन है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश का शासन-सूत्र संभालने की इच्छा यह रखती है। और भी ऐसी पार्टियां और संगठन देश में हैं; किंतु कांग्रेस उन सबमें बहुत अधिक प्रतिष्ठित और शक्तिशाली है। इसका पहला कारण तो यह है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में शांतिमय सत्याग्रह के द्वारा उसने देश को आजादी दिलाई। दूसरा यह कि उसमें त्यागी, योग्य, कार्यकुशल, ईमानदार, परखे हुए नेता और कार्यकर्ता हैं। इनमें अधिकांश गांधीजी के द्वारा मैदान में लाये हुए हैं—कुछ उनसे पहले के भी हैं, जिनपर गांधीजी का रंग चढ़ा था और अब भी है। तीसरा यह कि वह केवल राजनीतिक दल नही है, एक महान् देश-सेवक संस्था और संगठन है। महज हुकूमत करनेवाली नही, देश का हर तरह कल्याण करनेवाली प्रगतिशील संस्था है। यही कारण है कि कांग्रेस के नेताओं ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही, भीतरी शांति की चिंता और स्थापना के साथ, देश के विकास-कार्यो को हाथ में लिया और पिछले कुछ वर्षों में आशातीत सफलता प्राप्त की। यही कारण है कि कांग्रेस के सर्वोच्च नेता श्री जवा-

हरलाल नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय जगत् में पंचशील की बुनियाद डाली। आज कांग्रेस-सरकार के पास 'हुकूमत' के माने 'देश और जनता की सेवा का एक महान् शक्तिशाली साधन' हो गया है। इसी कारण, मतभेद रखते हुए भी, आम जनता के हृदय में कांग्रेस का अखंड राज्य है और आम चुनाव के अवसर पर देश की तमाम बेमेल राजनीतिक पार्टियो ने उससे संयुक्त मोर्चा लेने की तैयारी की——कोई एक अकेली पार्टी उससे लोहा लेने की हिम्मत नहीं कर सकी है।

परंतु कांग्रेस का यह राजनीतिक रूप जहा उसका अपार बल है, वहां वह उसकी कई भीतरी कमजोरियों का भी कारण बन गया है। अधिकांश कांग्रेसी कार्यकर्ता सत्ता प्राप्त करने, सत्ताप्राप्त जनों को बल देने और कई तो महज अपना स्वार्थ साधने के लिए भी, कांग्रेस कमेटियों, विधानसभाओं और मंत्रिमंडलों में, दलबंदी, गुटबंदी, तिकडम, उखाड़-पछाड़, दांव-पेंच का प्रयोग करने में एक-से-एक आगे बढ रहे हैं। सत्ता प्राप्त करना, सत्ता का संचालन करना उतना ही महत्वपूर्ण और पवित्र कार्य है, जितना कि योग-साधन, ईश्वराधन या ब्रह्मप्राति; परंतु आज उसे लोग गंदा, गर्हित समझने लगे हैं, भले आदमी उससे किनाराकशी करते नजर आ रहे हैं। किसी जमाने में इग्लैंड में जो मान्यता थी कि राजनीति भले आदमियों का स्थान नहीं है, वही यहां भी चरितार्थ होती हुई दिखाई देती है। भले, सीधे-सादे निकम्मे की गिनती में आने लगे हैं और तिकडमी होशियार कार्यकर्त्ता गिने जाते हैं। कई भले कार्यकर्त्ताओं और सेवाभावी संस्थाओं का जगह-जगह पर दम घुट रहा है——उनकी किसी एक गुट का साथ दिये बिना खैर नहीं है। इसीसे कांग्रेस के महान नेता बड़े सोच में पड़ गये हैं, और उद्योग कर रहे हैं कि शासन और सत्ता के साधन ऐसे ही लोगों के हाथों में रहें, जो उन्हें सेवा और समाज-कल्याण में लगाना चाहते हों, न कि अपना स्वार्थ, सुख या महत्वाकांक्षा की पूर्ति में।

परंतु इसमें एक बड़ी मुश्किल है। कांग्रेस प्रजातंत्री संस्था है। किसी एक नेता या सर्वाधिकारी के कहने से उसमें कोई आ-जा नहीं सकता। उसके

जो सदस्य हैं, जो मतदाता हैं, वे जिन्हें चुनते ह वे ही आ पाते हैं । वे हजारों-लाखों की तादाद में हैं । उनपर किसी एक की दुहाई नहीं फिर सकती, न फिरनी चाहिए । ये मतदाता अभी शिक्षित, जागरूक, कर्तव्य-पालक नहीं हुए हैं । चुनाव की पद्धतियां भी ऐसी हैं कि उनसे तिकड़मी लोगों को सर्वथा रोक पाना कठिन हो रहा है । फिर भले आदमी चुनाव की झंझट, भाग-दौड़, भिड़ंत से बचे रहना भी चाहते हैं । खर्चे का सवाल अलग परेशान करता है । इनसब तथा अन्य कई कारणों से कांग्रेस के बड़े नेता कहांतक सफल होंगे, यह कहना मुश्किल है । पर इसमें कोई शक नहीं कि उनका उद्योग सही दिशा में है, वे कांग्रेस को इस तरह बलशाली बनाने का हार्दिक प्रयत्न कर रहे हैं ।

परंतु क्या यह सब हम कांग्रेसी कहे जानेवालों के लिए शोभा या प्रतिष्ठा-वर्द्धक है ? जिस माता के दूध का पान करके हम आजाद हुए, भारत-माता के बंधन तोड़ने में कामयाब हुए, नाना प्रकार के कष्ट, यातनाएं सहीं——क्या आज पद-सत्ता के सामने आने पर हम इतने दीन-हीन, कुत्सित, पतित हो गये कि गांधी-टोपी को लोग आज गाली देने पर उतारू हो जाते हैं, कांग्रेस के प्राण-प्यारे तिरंगे झंडे के अपमान की कहानियां सुननी पड़ती हैं, हमारे प्यारे नेताओं, मुख्य-मंत्रियों, मंत्रियों, बहनों को उपद्रवों और हिंसा-कांडों का सामना करना पड़ता है ? क्या हम विरोधी दलों, कम्यू-निष्टों (साम्यवादियों), समाज-विनाशक तत्वों को कोस-कोसकर ही अपना संतोष करते रहेंगे ? क्या इस तरह हम कांग्रेस-माता का बल बढ़ाने की आशा रख सकते हैं ?

हम हरेक कांग्रेसी के आत्म-निरीक्षण का यह अवसर है । हमने विरो-धियों को बहुत बुरा-भला कहा——ठीक; हमने साथियों में भी दूसरों को बुरा, गुनहगार ठहराया, अपनेको अच्छा साफ-पाक——यह भी ठीक । परंतु इस तरह परस्पर दोषारोपण का क्रम कबतक चलेगा ? अब क्या हम अपनी कमियों, बुराइयों, कमजोरियों को भी थोड़ा देखने का प्रयत्न करेंगे ? यदि हम सचमुच ऐसा करने का उद्योग करेंगे, तो मुझे विश्वास है कि हममें

से बहुत ऐसा कह उठेंगे--

"मो सम कौन कुटिल खल कामी।"

ईसामसीह की कथा की तरह उस पापिन स्त्री को पहला ढेला मारने की बहुत कम लोगों की हिम्मत होगी।

यदि हम ऐसा करें और कर सकें तो न केवल जवाहरलाल का, और विनोबा का सुदर स्वप्न देखते-देखते प्रत्यक्ष हो जायगा, बल्कि स्वर्गीय बापू का रामराज्य भी 'स्वप्न राज्य' नही रह सकेगा।

क्या बापू की आत्मा कांग्रेसजनों को ऐसा आशीर्वाद नही दे रही होगी ?

: १३ :

चुनाव: होश न खोवें

जब आम चुनाव होते हैं तो वे एक बुखार का रूप धारण कर लेते हैं। भारत में कांग्रेस सबसे अधिक पुरानी, प्रभावशाली, सुसंगठित तथा प्रतिष्ठित पार्टी या संस्था है। इसलिए उसमें टिकटों के लिए लंबा खासा 'क्यू' लग जाता है, जो कि लोगों के उत्साह, जागृति, दिलचस्पी और जीवन का चिह्न है। उस समय सब अपनी-अपनी उम्मीदों में जोर लगाते हैं--जिस दिन आखिरी फैसला होता है उस दिन सच्चे कांग्रेसी की परीक्षा होती है। जिनको टिकट मिल जाता है, वे चुनाव में कांग्रेस की प्रतिष्ठा और रीति-नीति को कहांतक निबाहते हैं और जिन्हें टिकट नही मिलता वे कहांतक उत्साह से, जिन्हें टिकट मिल गया है, उन्हें जिताने का यत्न करते ह, या कितना 'सेबोटेज' करते है, स्वतंत्र खड़े होते हैं--यह सब देखना होता है। यदि कांग्रेस आज केवल सेवा और त्याग-प्रधान ही संस्था होती या रह जाती, तब तो यह सबकुछ न होता, परंतु अब क्योंकि पद-प्रतिष्ठा, स्वार्थ-साधन

आदि कई प्रलोभन उसके साथ जुड़ गये हैं, अतः सभी तरह के लोग उसकी ओर दौड़ पड़े हैं। इसके दुष्प्रभाव से कांग्रेस खाली नहीं रह सकी। इसलिए और भी ज्यादा सोचने की जरूरत है।

लेकिन चुनाव में पड़नेवाली अकेली कांग्रेस ही तो नहीं है--दूसरी राजनीतिक संस्थाएं भी हैं--जनसंघ, हिंदू महासभा, रामराज्य परिषद्, कम्यूनिस्ट, प्रजा समाजवादी, ये इनमें मुख्य हैं। इनमें पहली तीन प्रायः एक ढंग से सोचती और चलती हैं, दूसरी दो प्रायः एक ढंग से। पहली तीनों का आधार प्राचीन विचारों पर है, तो दूसरी दो का आधुनिक। पहली को पुराण-पंथी, दूसरी को प्रगतिशील कह सकते हैं। इनमें भी चुनाव की खलबली स्वाभाविक है।

चुनाव क्यों लड़े जाते हैं? इसलिए कि मतदाताओं को अपने मनपसंद प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिले। यही प्रजातंत्र है। इसके लिए आवश्यक है कि पहले मतदाता जानें कि कौन-कौन उम्मीदवार हैं और उनके क्या विचार तथा कार्यक्रम हैं। ये उम्मीदवार अपनेको, अपने विचारो और आदर्शो के अनुसार, भिन्न-भिन्न वर्गो में बांट लेते हैं--जैसे कांग्रेसी, जनसंघी, समाजवादी आदि। या यो कहिये कि अलग विचार और आदर्श रखनेवाली संस्थाएं या पार्टियां बनी होती हैं और उम्मीदवार अपने मत के अनुकूल किसीका सदस्य बनता है और उससे टिकट प्राप्त करके मतदाताओं से मत मांगने जाता है। अंत में मतदाताओं के ज्यादा मत जिस दल या संस्था को मिल जाते हैं, वह अपने बहुमत के आधार पर अपने दल का एक नेता चुनती है, वह मंत्रिमंडल बनाकर शासन करता है। यह शासक दल कहा जाता है। दूसरा दल जो हार जाता है, वह अकेला या दूसरे हारे हुए दलों को मिलाकर एक विरोधी या विपक्षी दल बनाता है। उसका भी एक नेता होता है, जो विरोधी दल का नेता कहलाता है। वह शासक या सत्तारूढ़ दल के कामों की कमियां, बुराइयां, कमजोरियां, गलतियां बताता है--इस तरह एक ओर वह शासक दल की अप्रत्यक्ष सहायता करता है, दूसरी ओर उसके मुकाबले में अपने दल को मजबूत करता जाता है, जिससे

जब भी शासक दल का बहुमत न रहे, वह शासन सम्हालने के लिए तैयार मिले। पश्चिमी प्रजातंत्र में यह विरोधी या विपक्षी दल अत्यंत आवश्यक माना गया है। वह आगे शासन का भार लेनेवाला दल समझा जाता है। इसलिए उसके बिना प्रजातंत्रीय शासन की सफलता नहीं मानी जाती है; क्योंकि यदि कोई विपक्षी दल नहीं है तो शासनारूढ़ दल को सजग और सावधान कौन करेगा और आपत्ति या आवश्यकता के अवसर पर शासन-भार कौन ग्रहण करेगा ? इसलिए विरोधी दल का बड़ा महत्व है।

परंतु भारत में आज विरोधी दल बहुत कमजोर है। विचारों और आदर्शों की एकता अथवा समानता के ही आधार पर तो दल बन सकता है या विभिन्न दल एकता के सूत्र में बंध सकते हैं। यों पूर्वोक्त पुराण-पंथी तथा प्रगतिशील दोनों श्रेणियों के विभिन्न दल कांग्रेस-विरोधी हैं और सब मिलकर कांग्रेस से बढ़ भी जाते हैं। १९५२ के चुनाव में सब विरोधी दलों ने मिलकर ५५ फीसदी मत प्राप्त किये थे। परंतु शासन-भार कांग्रेस को सम्हालना पड़ा, क्योंकि उसी एक दल का बहुमत प्राय: सभी राज्यों में हो पाया था। दूसरे दल अलग-अलग रहे और थोड़े-थोड़े मत प्राप्त करके रह गये। अत: अब कुछ विपक्षी दल सोच रहे हैं कि हम जितने अधिक दल आपस में मिल सकें, उतने मिलकर कांग्रेस का मुकाबला करें।

महज कांग्रेस का ही मुकाबला करना हो तो पुराण-पंथी और प्रगतिशील सभी मिलकर संयुक्त मोर्चा बना सकते हैं और यह भी मान लीजिये कि कांग्रेस को चुनाव में हरा दिया। अब आगे क्या ? शासन तो चलाना होगा न ? यदि इन सब दलों के आदर्श, विचार, कार्यक्रम जुदा-जुदा हैं तो फिर किस आधार पर सब मिलकर नेता चुनेंगे और शासन-कार्य चलेगा ? प्राचीन भारतीय परंपरा, संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाज-विकास की योजनाएं बनेंगी, या साम्यवादी और समाजवादी आर्थिक-सामाजिक समानता के आधार पर ? अथवा, इस कल्पना को छोड़कर पुराण-पंथी तथा प्रगतिशीलों के अलग-अलग गठबंधन का हिसाब लगायें। यह कुछ समझ में आने लायक बात है। जनसंघ, हिंदू महासभा, रामराज्य-परिषद्

में कोई वैचारिक भेद ऐसा नहीं दीखता जिससे ये एक होकर चुनाव न लड़ सकें और यदि बहुमत हो गया तो शासन-भार न ग्रहण कर सकें। अलबत्ते प्रगतिशील दलों में——साम्यवादियों तथा प्रजा-समाजवादियों में——एक बड़ा अंतर है, हिंसा-अहिंसा का। साम्यवादियों ने हिंसा का परित्याग नहीं किया है, जबकि समाजवादियों ने संभवतः शुरू से ही उससे नाता तोड़ दिया है। दोनों में इस महान् भेद के रहते हुए इनका मिलकर शासन-भार चलाना असंभव नही, तो कठिन अवश्य है।

किंतु आप कहेंगे, आप तो बहुत दूर चले गये। शासन-भार लेने की स्थिति पैदा हो या न हो, कांग्रेस की उद्दाम गति को रोकना जरूरी है। वह अनियंत्रित-सी हो रही है। चुनाव में यदि वह सरपट दौड़ती हुई बहुमत ले गई तो फिर खुदा ही हाफिज है। भारत में नाम-ही-नाम का जनतंत्र रहेगा—उसकी ओट में और उसके नाम पर निश्चित अधिनायकत्व आ जायगा। कांग्रेस को और देश को इस खतरे से बचाना है। यह तभी हो सकता है जबकि विरोधी दलों की ऐसी सख्त मोर्चाबंदी की जाय कि चुनाव जीतने में कांग्रेस को एक बार पसीना आ जाय। इससे दो लाभ होंगे——एक तो कांग्रेस विरोधी दलों की, उनके विचारों, भावनाओं, सुझावों की ज्यादा कद्र किया करेगी, दूसरे उसके अंदर भी एक शुद्धीकरण की, आंतरिक संघटन को सुदृढ़ करने की प्रेरणा जगेगी, जो धांधली, मनमानी, आपाधापी जगह-जगह चलती नजर आती है, उसमें कुछ रुकावट आवेगी।

इस दृष्टि से बेमेल पार्टियों के संयुक्त मोर्चे का सवाल लाया जाता है। जबतक शासना-भार उठाने की तैयारी नही है, या वह लक्ष्य सामने नहीं है, केवल एक अमुक पक्ष के विरोध की, उस ताकत को रोकने की, भावना है, तबतक ऐसा दल या संयुक्त मोर्चा ज्यादा दूर या ज्यादा देर चल न सकेगा। केवल निषेधक-दोषदर्शक क्रिया, किसी विधेयक या रचनात्मक या पूरक कार्यक्रम के बिना, आगे चलकर वंध्या की तरह हो जाती है। परंतु एक दलील जोरदार मालूम होती है। शक्ति-संगठन, प्रभाव की दृष्टि से आज कांग्रेस का मुकाबला किसी भी एक दल के लिए बहुत

कठिन है। इसमें कोई विवाद या मतभेद नहीं है, परंतु सामाजिक आदर्श से जहांतक संबंध है, कांग्रेस प्रजा-समाजवादी दल के आदर्श से पीछे है। सबसे आगे बढ़ा हुआ आदर्श तो है 'सर्वोदय', जहांतक आगे-पीछे कांग्रेस को जाना है, या जाना चाहिए। कांग्रेस को भी वह अमान्य नही है, क्योंकि उसके नेता जवाहरलालजी ने बोलपुरवाले कांग्रेस-महासमिति के अधिवेशन में समाजवादी ढंग की जगह सर्वोदय की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। परंतु वह तो ठीक, अभी कांग्रेस शुद्ध समाजवाद तक भी तो नही पहुंच पाई है। सिर्फ उसका झुकाव उस तरफ हुआ है। वह यही न रुकी रहे, इसलिए एक प्रहरी की आवश्यकता है। वह है प्रजा-समाजवादी दल। वह यदि कांग्रेस को जगाता रहता है, समाजवाद की मशाल जलाता रहता है तो कांग्रेस की सेवा करेगा। इस इतने से काम के लिए भी प्रजा-समाजवादी दल और उसका चुनाव लड़ना जरूरी है, क्योंकि प्रजा-समाजवादी दल सर्वोदय और समाजवादी ढंग के बीच कड़ी या सीढ़ी है। वह कांग्रेस को समाजवाद की ओर खीचती रहेगी, अपनी संगठन-शक्ति से नही, अपने विचार की महत्ता और श्रेष्ठता से। प्रजा-समाजवादी दल का यह सीमित उपयोग हमें भी ठीक लगता है।

यह शासक दल और विपक्षी दल की तजवीज, जनतंत्र सार्थक हो और और संस्था या समाज की व्यवस्था अक्षुण्ण चलती रहे, इस दृष्टि से की गई है। किसी संस्था, समाज या देश का कारोबार चलाने के लिए परस्पर पूरक के रूप में, इन दोनों दलों की कल्पना की गई है। किंतु क्या वह सफल हुई है? क्या इस कल्पता में सुधार नही किया जा सकता? इससे आगे नहीं बढ़ा जाय? जनतंत्र के अबतक के तमाम अनुभवों से लाभ उठाकर, उनके प्रकाश में कोई नवीन प्रयोग न किया जाय? ऐसी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती, जिसमें पक्ष-विपक्ष न रहें? एकमत से ही सब काम हो सके? क्या यह असंभव है? या अनुचित है?

हमारा प्रजातंत्र चुनाव के आधार पर खड़ा है। चुनाव के अंत में कोई सफल होता है, कोई विफल। कोई जीतता है, कोई हारता है। जो जीत

गया, वह तो सत्ताधारी होगया, जो हार गया, उसका क्या हो ? जीतनेवाले को 'बहुमत' और हारनेवाले को 'अल्पमत' के नाम से पुकारते हैं। अल्पमत का भी तो आखिर अस्तित्व है, एक क्षेत्र, एक दायरे का तो वह भी प्रतिनिधित्व करता ही है। जनतंत्र प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली है। उसमें यदि अल्पमत उपेक्षित ही रहा, उसका कोई उपयोग, कोई आवाज, कोई प्रभाव नहीं रहा तो इस प्रणाली को संपूर्ण नहीं कह सकते। इसलिए उसे पूरक मानकर, भावी शासन-व्यवस्था संभालने की जिम्मेदारी उसपर डाल देने से, वह एक जिम्मेदारी और कर्तव्य-परायणता के साथ काम करेगा।

परंतु प्रश्न यह है कि आम चुनाव के समय तो बहुमत और अल्पमत के भेद को टालना असंभव है। जबतक मत लेने की प्रणाली रहेगी, तबतक आम चुनावों में भी सब जगह एकमत से चुनाव हो जायं—यह कल्पना बड़ी दुरूह मालूम होती है। इस विशाल चुनाव को छोड़ दें तो छोटी-छोटी समितियों और संस्थाओं में जो नित्य बहुमत और अल्पमत का भेद दीख पड़ता है, और आगे जाकर भी झगड़ा चलता रहता है, उससे बचना जरूरी है और हमारी समझ से बचा भी जा सकता है। विधानसभाओं, लोकसभाओं, राज्यसभाओं में जो बहुमत-अल्पमत का भेद, दिन-प्रतिदिन के कामों में, रखा जाता है, रखना पड़ता है, उसको मिटाना जरूरी है, वह आवश्यक भी मालूम पड़ता है। उसमें हमेशा अल्पमत को यह शिकायत बनी रहती है कि बहुमत हमारी नहीं सुनता—मनमानी करता है। बहुमत के बल पर अपनी सब चीजें हमपर लादता रहता है। यह अहसास जनतंत्र की सफलता, यथार्थता और सार्थकता का बाधक है। उधर बहुमत को काम की, नतीजा लाने की, अपनी लोकप्रियता की इतनी जल्दी और उत्सुकता रहती है कि अल्पमत की ओर उतना ध्यान नही जाता। बहुमत का विश्वास तो रहता ही है, अतः अल्पमत की उपेक्षा अपने-आप होती रहती है, बल्कि कभी-कभी तो अल्पमत एक झंझट-सी मालूम होने लगता है, बाधक और रुकावट भी लगने लगता है। इससे दोनों का संबंध परस्पर प्रेम, सद्भाव, सहयोगपूर्ण तथा पूरक न होकर प्रतिस्पर्धा, आलोचना और विरोधपूर्ण हो जाता है और 'लगे विनायक

बनाने, बना बैठे बंदर'—ऐसी गति और स्थिति हो जाती है। फिर यह विवाद, कलह, विरोध, समितियों और संस्थाओं के अंदर तक ही सीमित नहीं रहता, अखबारों में और सभामंचों पर भी जा पहुंचता है। पर्चों, पुस्तिकाओं का विषय बनता है। आगे चलकर काले झण्डे, धरना, भूख-हडताल, उत्पात, उपद्रव के रूप में प्रकट होता है। फिर सरकारी पुलिस के डंडे, गैस, गोली-कांडों का नंबर आता है। जो विपक्षी दल जनतंत्र की सफलता के लिए, समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक पूरक रूप में पैदा हुआ था, वह अंत में कहां जा पहुंचा ! जो भरत बनने चला था, वह रावण रह गया ! ऐसी स्थिति में हम पड़ जाते हैं। इसपर गंभीरता से विचार करने की, कोई अच्छा रास्ता खोजने की, आवश्यकता है।

मेरी राय में आम चुनाव होने के बाद फिर आगे के काम एकमत से ही होने चाहिए, क्योंकि आम चुनाव में आदर्श, नीति-संबंधी फैसले हो जाते हैं। चाहे हम भारत-राष्ट्र को लें, कांग्रेस या समाजवादी अथवा जनसंघ-जैसे राजनीतिक संगठनों को लें, या धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक संस्थाओं को लें, इनका एक संविधान होता है, जिसमें उनके उद्देश्य, आदर्श, नीति निश्चित रहते हैं। उनको मानकर ही कोई उनका अंग या सदस्य बनकर रह सकता है। जब एक बार कोई व्यक्ति किसी राष्ट्र का नागरिक या किसी संगठन अथवा संस्था का सदस्य बन गया तो फिर उद्देश्य, आदर्श, नीति-संबंधी विवाद या विरोध तो खतम हो गया।

मैं भारत का नागरिक हूं, आप जापान या रूस के हैं तो आप हम वहां के संविधान को मानकर ही चलेंगे, उसकी सीमा के अंदर ही रहेंगे। यदि संविधान मंजूर नहीं है तो हम उस राष्ट्र में नागरिक के तौर पर नहीं रह सकते, विदेशी के तौर पर रह सकते हैं। उस दशा में भी विदेशियों के लिए बने नियमों के अधीन रहना पड़ेगा। हम कहीं भी बिल्कुल स्वतंत्र—संविधान, नियम से परे—नहीं रह सकते। इसी तरह कांग्रेस जैसे संगठन या हरिजन सेवक-संघ जैसी संस्था के सदस्य भी उसके विधान, नियम, अनुशासन से बंधे रहेंगे। किसी भी प्रश्न का निर्णय करने से पहले सब सदस्यों को अपने

विचार पूर्ण स्वतंत्रता से व्यक्त करने की सुविधा होनी चाहिए। यह तो ठीक। इससे प्रस्तुत प्रश्न पर हर पहलू से रोशनी पड़ जाती है, जिससे सही निर्णय करने में मदद मिलती है। अब सब तरह से युक्ति तथा आंकड़े, विभिन्न दृष्टि-बिंदु आदि सामने आ जाने पर, उनकी चर्चा कर लेने पर, फिर फैसला करने के लिए मत लेने या बहुमत से फैसला करने की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए? सब दृष्टि-बिदुओं से विचार करने के उपरांत फैसला होना चाहिए, या उपस्थित सज्जनों के मत गिनकर फैसला होना चाहिए? सही प्रजातांत्रिक तरीका क्या है? निर्णय जहांतक बन सके सही हो या इसकी परवा किये बगैर, उपस्थित व्यक्तियों की राय से होना चाहिए, भले ही वह गलत हो?

जनतंत्र का मतलब क्या यह है कि महज लोगों की राय से अर्थात् उनके मत गिनकर फैसला हो, भले ही दरअसल वह गलत हो? यदि ऐसा है तो फिर जनतंत्र के इस रूप या प्रणाली पर गंभीरता से सोचने की जरूरत है। यह हमारे समाज और राष्ट्र के मूल पर ही कुठाराघात करनेवाली बात है। यदि आप सही बात पर जोर नही देते है और महज मत गिनने पर आधार रखते है तो इससे बढ़कर अनर्थकारी बात अपने समाज, राष्ट्र, शासन के लिए आप और क्या कर सकते है? इसमें न आपकी नीति रहेगी, न सदाचार, न सज्जनता, न आपस का स्नेह-सद्भाव। वे सब मानुपी गुण लोप होंगे और महज 'कन्वेसिंग' 'गुटबंदी'—जो स्वार्थ-सिद्धि के बल पर की गई होगी—भय, दबाव आदि का बोलवाला होगा। दूसरे शब्दों में, मूल प्रजातांत्रिक भावना का ही गला घुट जायगा—आज भी घुटने लगा है।

अत: हमारी राय में नित्य कार्य के लिए सब फैसले एकमत से होने चाहिए। मत गिनकर और एकमत न हो सकने की अवस्था में बहुमत से फैसला करने की प्रथा बंद हो जानी चाहिए। वह कैसे हो?

मेरा सुझाव यह है कि अच्छी तरह,मुक्त-निर्बाध विचार-चर्चा होने के बाद मत लेने या गिनने के बजाय हमारे विधान या नियमों में ही यह गुंजाइश होनी चाहिए कि फिर भी उस प्रश्न का फैसला उस सभा या समिति का

अध्यक्ष करे। सब व्यक्तियों, पक्षों के विचार सुनने के बाद, गुण-दोष-विवेचन के बाद, अध्यक्ष इस स्थिति में आ जायगा कि सही फैसला कर सके। उसका फैसला सभा या समिति को मान्य होना चाहिए--ऐसी धारा ही विधान या नियमावली में डाल देनी चाहिए। यह पूर्ण जनतांत्रिक व्यवस्था होगी।

अब आप कहेंगे--अध्यक्ष गलत निर्णय कर सकता है, उसने ऐसा निर्णय कर दिया, जिसे बहुमत से मनवाना मुश्किल हो, तो फिर क्या होगा? यह शंका या कठिनाई सही है। इसका इलाज यह है--अध्यक्ष फैसला तो कर दे, किंतु एक महीने तक उसपर अमल न हो। फैसला जाहिर होते ही उसपर आमतौर पर अखबारों में, सभाओं में आलोचना करने की, गुण-दोष दिखाने की, छूट लोगों को रहे। अलबत्ते उसमें व्यक्तिगत हमला करने की स्वतत्रता न रहेगी। फैसले के बारे में खुलकर नुक्ताचीनी की की जाय। इससे अध्यक्ष को मौका मिलेगा अपने फैसले पर फिर विचार करने का तथा लोकमत को जानने का। फैसले का सही होना जैसा जरूरी है, वैसा ही यह देखना भी जरूरी है कि लोग आज इस पर अमल करने के लिए कहांतक तैयार है, क्योंकि जनतंत्र में शासन या व्यवस्था लोक-सहयोग के बल पर ही चल सकती है। अतः यह सुविधा जन-साधारण और जनता को मिलनी चाहिए कि वे इस फैसले पर रायज़नी या नुक्तचीनी कर सकें। उसके प्रकाश में फिर अपने फैसले पर पुर्नविचार करने की गुजाइश अध्यक्ष के लिए रहने दी जाय। वह खुद ही, दुबारा बैठक बुलाकर, चाहे तो फैसले को बदल दे।

इससे लाभ यह होगा कि सब सदस्यों की तथा अध्यक्ष की प्रवृत्ति यह होगी कि फैसला सही हो। आज यह प्रवृत्ति क्षीण होती जा रही है। जिन्होने किसी तरह अपना बहुमत बना लिया है, वे इस बात की परवा कम करते हैं कि फैसला सही हो, क्योंकि बहुमत के बल पर हरचीज को चला ले जाने का आत्म-विश्वास उन्हें रहता है। अतः अल्पमत उपेक्षित या निरादृत रहता है और उसमें स्वेच्छापूर्ण सहयोग की वृत्ति उत्पन्न करना प्रायः असंभव

हो गया है। विचार, निर्णय सही हो, निर्णय के बाद उसमें सब सहयोग दें—यह भावना ही नहीं रह जाती, अपनीं-अपनी बात दूसरों पर ठूंसने और लादने की प्रवृत्ति रहती है, किस तरह हमारा बहुमत हो, यही धुन रहती है। इस अनर्थ से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि निर्णय अध्यक्ष पर छोड़ दिया जाय, उसे उसपर पुनर्विचार की छूट रहे या फिर ऊपर की वरिष्ठ समिति में उसकी अपील का अवसर रहे, जिससे नीचे कोई गलती हुई हो तो वह ऊपर ठीक कर ली जाय। इससे बहुमत-अल्पमत का चक्कर मिट जाता है और अल्पमत को यह शिकायत करने का अवसर नही रहेगा कि बहुमत हमपर जुल्म करता है और बहुमत को भी तानाशाही प्रवृत्ति की ओर बढ़ने का अवसर न रहेगा।

अब रह जाता है प्रश्न चुनाव-पद्धति का—प्रत्यक्ष मतदान-प्रणाली का। इसमें और बातें तो इतनी हानिकर या भयानक नहीं हैं, जितनी हमारी गुप्त मतदान-प्रणाली, या वर्तमान प्रचार-प्रणाली। गुप्त मतदान-प्रणाली इसलिए शुरू हो गई और अच्छी समझी गई कि मतदाता निर्भय होकर जिसको चाहें मत दे सकें, कोई उसे दबा न सके। परंतु इसका अवसर हम उलटा दे रहे हैं। थोड़े-से लोग भले ही दबाव से बच जाते हों या निर्भय होकर मत देते हों—अधिकांश तो इस प्रणाली से झूठ बोलने और धोखा देने की आदत सीखते हैं। मतदाता हर उम्मीदवार को आशा बंधाता है, आश्वासन देता है, कसम भी खा जाता है और अंत तक पता नही चल पाता कि वास्तव में मत किसको देगा। क्या यह स्थिति वांछनीय और समाज को आगे ले जानेवाली है? उम्मीदवार खुद भी मतदाता को सिखाता है कि भले ही तुम टिकट दूसरी पार्टी वालों से ले लो, उन्हींके साथ मत देने जाओ भी, पर चुपके से मत हमें दे देना, और कई बार विश्वास भी रखते हैं कि यह मतदाता उन्हें धोखा देगा, हमें नहीं। इस तरह उम्मीदवार और मतदाता दोनों झूठ बोलना और धोखा देने की आदत सीखते-सिखाते हैं।

आजकल चुनाव भोजन-स्नान की तरह हमारे जीवन का नित्यधर्म हो गया है। हर संस्था में, हर समिति में, हर देश और राष्ट्र में, नीचे से लेकर

ऊपर तक नित्य कई प्रकार के चुनाव होते हैं और उनमें यही गुप्तदान-पद्धति चलने से झूठ और धोखेबाजी की शिक्षा हमारे करोड़ों मतदाता रोज पाते हैं। अब बताइये, आप अपने बच्चों और नागरिकों को सचाई, ईमानदारी की शिक्षा कैसे दे सकते हैं और उनसे सच्चे तथा ईमानदार बने रहने की उम्मीद कैसे रख सकते हैं ?

इसके लिए सभी भले नागरिकों को जोर की आवाज बुलंद करनी चाहिए। हमारे राष्ट्र को ऐसी झूठ और धोखेबाजी की शिक्षा निरंतर मिलती रही तो फिर हमारा भगवान ही मालिक है। अणु तथा उद्जन बम से हमारे राष्ट्र को इतना भय नही है, जितनी इस राक्षस से हमारे जीवन की नित्य हानि हो रही है। हमारी नैतिकता की जड ही कट रही है।

फिर इस गुप्तमत-प्रणाली से मतदाता में निर्भयता कभी नही आ सकती। वह दब्बू और बुजदिल ही बना रहता है और बना रहेगा, क्योंकि खुलकर किसीका विरोध करने, यह कहने की कि मै अपना मत आपको नही, फलां को दूगा, उनमें हिम्मत कभी आ ही नही सकती और यदि ऐसी निर्भयता या हिम्मत हमारे नागरिकों में हम नही ला पाये तो इसे हम क्या प्रजातंत्र की सफलता और सार्थकता कहेंगे ? क्या ऐसे नागरिक हमारे राष्ट्र के सम्मान, गौरव, प्रतिष्ठा को बढ़ा सकते है ? क्या इनके भरोसे समाजवादी या सर्वोदयी समाज स्थापित करने की आशा की जा सकती है ?

अब प्रचार-प्रणाली को लीजिये। वैसे, जब पार्टिया चुनाव लड़ती हैं तब पार्टी का घोषणा-पत्र चुनाव की जान होता है। उसीके आधार पर मतदाताओं से सब पार्टियों के लोग अपील करते है। जो स्वतंत्र उम्मीदवार होते है, उनका स्थान आजकल की पार्टी-पद्धति में बहुत कम होता है। जहां-तक विचार-प्रदर्शित करने का सवाल है, पार्टी-पद्धति बुरी नही है, एक तरह की सहूलियत उससे होती है; परंतु जहांतक पार्टी के आधार पर मत देने का सवाल है, कई बार ऐसे अवसर आते है, जहां सदस्य या सदस्यों को महज पार्टी की खातिर, अपनी भीतरी मंशा के खिलाफ, पार्टी के साथ मतदान करना पड़ता है। इस दोष से जनतंत्र को बचाना आवश्यक है।

इसका उपाय तो हम ऊपर बता ही चुके हैं। यहां तो हमें प्रचार-प्रणाली पर खास तौर से विचार करना है।

हां, तो जब पार्टियां चुनाव लड़ती है तब पार्टी के सिद्धांत, आदर्श, योजना, कार्यक्रम मुख्य हो जाता है, उसकी तरफ के भिन्न-भिन्न उम्मीदवार नहीं। उम्मीदवार अच्छे, प्रभावशाली, नेक, शरीफ है, तो पार्टी के लिए अच्छा है, पार्टी की शोहरत उससे बढ़ेगी; परंतु प्रतिपक्षी के सामने उम्मीद-वार व्यक्ति नहीं है, बल्कि पार्टी है। अतः यदि हम एक-दूसरे की पार्टी के खिलाफ, उसके उसूल, कार्यक्रम, रवैया आदि के खिलाफ, कुछ कहें तो इसमें कोई आपत्ति नही, परंतु हम अक्सर उम्मीदवार व्यक्ति पर हमला कर बैठते है, उसके सारे जीवन और चरित्र पर दोषारोपण करते है, तमाम गंदे हथकंडे काम में लाते हैं। यह सब प्रजातंत्र की आत्मा के विरुद्ध है, और कतई बंद होना चाहिए। यदि व्यक्ति खराब है तो उसकी चर्चा पार्टी में, संबंधित समिति में, अवश्य होनी चाहिए। दोष की छानबीन होनी चाहिए, दोष साबित होने की अवस्था में उचित कार्रवाई भी होनी चाहिए, परंतु उठते ही आम लोगों में भद्दा और गंदा प्रचार शुरू कर दिया जाता है, यह बिल-कुल अनुचित है, फिर चाहे यह प्रचार किसी विरोधी दल के व्यक्ति के विषय में हो, या अपने ही दल के व्यक्ति के संबंध में।

हमारी भारतीय सभ्यता ने तो हमें सिखाया है कि अपने अवगुण और दूसरों के गुण देखो और उनकी चर्चा करो। तुलसीदासजी ने तो यहातक कहा है—"पिशुन पराय पाप कहि देही"। पर-निंदा को हमारे यहां पाप माना गया है। परंतु पश्चिमी प्रजातंत्र हमें सिखाता है कि यह प्रचार करना कि हम अच्छे, तुम बुरे; हम भले है हमें वोट दो; ये बुरे हैं निकम्मे हैं; इन्हें वोट मत दो। इसका नतीजा यह हो रहा है कि दोनों तरफ से अवगुण-चर्चा ही जोर पर रहती है। हमें अपनी गलती देखने, उसे दूर करने की प्रवृत्ति ही नही होती, मौका ही नहीं मिलता। दोनों ओर यही घाटे का, बुराई का सौदा होता है और भलाई के बजाय बुराई ही दोनों के और लोगों के भी पल्ले पड़ती है। इसपर भी रोक लगने की जरूरत है।

यह किसी एक पार्टी या संगठन के सोचने का प्रश्न नही है, सभीको सोचना चाहिए। और कोई सोचे या न सोचे, कांग्रेस को तो सोचना जरूरी है, क्योंकि आज भारत में वह सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावकारक संगठन है।

एक सुझाव अप्रत्यक्ष चुनाव करने का आ रहा है। यों वह ठीक है, परंतु यह पलायन-वृत्ति हुई। प्रत्यक्ष चुनावों के लिए मतदाताओं का काफी शिक्षित और जिम्मेदार होना जरूरी है। उनमें इतनी क्षमता हो सके कि वे चुनाव के प्रश्न का मर्म और महत्व समझ लें; उनमें अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान, उम्मीदवार को परखने की क्षमता, और बड़े-से-बड़े आदमी को भी 'ना' कहने की हिम्मत हो। मतदाता की ऐसी स्थिति बनाने का प्रयत्न करना हमारा सच्चा काम है। परंतु इसमें समय लगेगा। अतः तबतक के लिए यदि अप्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली स्वीकृत हो जाय तो बुरा नही है। उसके चुनाव-संबंधी बहुत-सी वर्तमान गंदगियों और बुराइयो से बचत होने की आशा की जा सकती है।

: १४ :

चुनाव : युद्ध नहीं, पर्व

प्रजातंत्र में आम चुनाव एक पर्व है। प्राचीन परिपाटी में पर्वो पर मेले होते हैं—वे पुण्य तीर्थों में होते हैं जहां लाखों भावुक यात्री आते और अपनी समझ तथा श्रद्धा के अनुसार पाप क्षय करके एवं पुण्य संचय करके जाते हैं। यही पर्व का माहात्म्य है। प्रजातंत्र को हम तभी सफल बना सकेंगे जब चुनाव को हम पर्व की महत्ता प्रदान करेंगे। आज तो चुनाव एक धका-पेल हो रहा है, जिसमें हम दूसरों को धक्का देकर आगे बढ़ना चाहते हैं। औरंगजेब ने हुकूमत के लिए अपने बाप को कैद में डाला था। नारायणराव पेशवा का खून उसके चचा बाजीराव पेशवा ने राजगद्दी के लिए

कराया था। आज हम चुनाव में आने के लिए--टिकट पाने के लिए, अपने साथी, मित्र, सहयोगी, भाई, पति, पत्नी, बाप, बेटे, नेता, अनुयायी सबके पारस्परिक रिश्ते, स्नेह-संबंध, ममत्व को ताक पर रखकर, उनकी बुराइयों को बताकर, अपनी सेवाओं और योग्यताओं का गुण गा-गाकर, उन्हें पीछे धकेलने और खुद आगे बढ़ने का जो उपक्रम देखते हैं, वह पूर्वोक्त मुगल और पेशवा बादशाहों और राजाओं से किसी कदर कम नहीं है। औरंगजेब और बाजीराव ने जो गर्हित साधन अपनाये थे, उनसे ज्यादा गर्हित साधन क्या हम नहीं अपना रहे हैं ? जवाहरलालजी ने जिस 'कोल्ड वार' (शीतयुद्ध) की भर्त्सना अनेक बार की है, क्या उससे कम दम-घोटूं यह सिलसिला नहीं है ? अतः यदि भारत को चुनाव-युद्ध के इस रावण से बचाना है तो चुनाव को युद्ध (चाहे वह उष्ण हो या शीत) कहने और मानने के बदले उसे एक पर्व, तीर्थ, गंगा-स्नान का पद देना चाहिए, देना होगा और मेरी समझ में तो सचमुच वह एक तीर्थ या पर्व ही है।

यह कैसे हो ? इसका रास्ता हमें जवाहरलालजी ने दिखाया है। यह चुनाव मतों की लड़ाई का साधन नहीं, लोगों को शिक्षित करने का साधन है। अर्थात् यह युद्धक्षेत्र नहीं, ज्ञान-सत्र, ज्ञान-यज्ञ है। इसमें सब पक्षों के, सब विचारों के, लोग मतों की भीख मांगने, या मतों की लड़ाई लड़ने की अपेक्षा, जनता को शिक्षित करने, अपने-अपने विचार, योजना, कार्यक्रम की विशेषता और खूबियां बताने का यत्न करें तो उन्हें तरह-तरह की ज्ञान-सामग्री मिलेगी, जिसमें उनकी बुद्धि को काफी खुराक मिलेगी। इसके बाद वे अपना फैसला करके जिसे ठीक समझेंगे, उसे वोट दे देंगे। यह स्वेच्छा-पूर्वक, ज्ञानपूर्वक, वोट लेने का तरीका हुआ। एक-दूसरे को बुरा कहकर, गाली-गलौज करके, रिश्वतें देकर, या और तिकड़में करके जो हम वोट लेते हैं वह तो 'युद्ध' की गिनती या श्रेणी में आता है---वह भी धर्म-युद्ध नहीं। परंतु जो इस प्रकार विचार और ज्ञान-प्रचार के द्वारा मत प्राप्त किया जायगा, वह एक ज्ञान-यज्ञ ही कहा जायगा। और जिस मेले में ऐसा ज्ञान-यज्ञ हो, जिस दिन, सप्ताह या पक्ष में वोट लेने का ऐसा मेला लगता हो,

उसे पर्व नहीं तो क्या कहा जाय ?

अतः मुझसे यदि आप चुनाव के विषय में पूछें तो मैं कहूंगा कि चुनाव युद्ध नहीं, तीर्थ है, पर्व है। यह पानीपत नहीं, कुरुक्षेत्र नहीं, यह प्रयाग है—त्रिवेणी है, संगम है, सिंहस्थ है, कुंभ है।

इसे दूसरी तरह से—आध्यात्मिक भाषा में यों कह सकते हैं, यह आत्मज्ञान से ब्रह्मज्ञान की ओर प्रयाण है। कांग्रेस का लक्ष्य है—समाज-सत्ता-प्रधान राष्ट्र बनाना। अर्थात् हम अपना व्यक्तिगत भाव मिटाकर समाज-भाव का विकास करें, उसे अपनावें। एक व्यक्ति का ऊंचा उठना आत्मज्ञान है। व्यक्ति जब यह मानने लगता है कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूं, अमर हूं, जड़ नहीं, चेतन हूं—यह आत्मज्ञान है। इससे व्यक्ति जड़से उठकर चेतन बन गया। जमीन की सतह से उठकर हिमालय से भी ऊंचा चला गया। परंतु रहा एक व्यक्ति ही। जड़-चेतनमय था, अब चेतन रह गया, जड़ मिट गया। इस व्यक्ति को हम आत्मज्ञानी कहेंगे। परंतु यह व्यक्ति जब यह सोचने या मानने लगता है कि जो चेतन-सत्ता मुझमें है, वही सारे जगत् में है, वस्तु-मात्र में है, तो वह ब्रह्मज्ञान हुआ। ब्रह्मभाव की ओर उसका प्रयाण हुआ। जो चेतन सत्ता एक व्यक्ति में समाविष्ट, रुद्ध या बद्ध है, उसे आत्मा कहते हैं; जो सत्ता सर्वत्र व्याप्त है, उसे हम ब्रह्म कहते हैं। आत्मा का व्यापक भाव ब्रह्म है। इस आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान को मिलाने से मानव की संपूर्णता होती है—इसीको बस सिद्धि, मोक्ष, परमपद, कैवल्य आदि कहते हैं। तो हमारी कांग्रेस ने अब आत्मज्ञान से आगे बढ़कर ब्रह्मज्ञान या आत्म-भाव से ऊंचा उठकर ब्रह्मभाव की ओर प्रयाण करना आरंभ किया है। और यह चुनाव उसमें उसका एक जबर्दस्त साधन है, और हो सकता है।

अबतक हमारे देश में कुछ संत, महात्मा, ऋषि, मुनि ज्ञानी होते थे। वे एक जगह रहते थे। लोग उसके पास जाकर ज्ञान, धर्म, कल्याण पाते थे। वे स्वयं तो आत्मनिष्ठ होते थे, दर्शनार्थी उनसे लाभान्वित भी होते थे। परंतु वे आत्मनिष्ठ नहीं बनते थे। उन सबका कल्याण करने की जितनी उनकी भावना थी, उतना उन्हें आत्मनिष्ठ बनाने की क्रिया नहीं

होती थी। प्रत्येक दर्शनार्थी, समाज का प्रत्येक व्यक्ति, नागरिक, आत्मनिष्ठ हो—उसके जीवन का स्तर इतना ऊंचा उठे—ऐसी योजना, कार्यक्रम, व्यवस्था नहीं थी। इस कमी की ओर पहली बार शायद बुद्ध का ध्यान गया। उन्होंने एक स्थान पर रहकर भ्रमण, यात्रा, बिहार द्वारा अपने ज्ञान, सिद्धि, प्राप्ति को जनता तक पहुंचाने, जनता को ऊंचा उठाने का उपक्रम किया। वह कितना चला, कितना सफल हुआ यह बात दूसरी है। परंतु उनके प्रयाण की दिशा सही थी। अब २५०० वर्ष बाद हमें बुद्ध की याद आई, क्योंकि बुद्ध व्यक्तिवादी नहीं, समाजवादी थे। उन्होंने व्यक्ति को समाज के अर्पित होने का मार्ग बताया—उसको प्रेरणा दी, उसका उद्योग किया। वे जनता के पास गये। आज भी हमें यही करना है। हमारे पास जो कुछ है वह जनता तक पहुंचाना है। हम एक जगह बैठकर सारी जनता को अपने पास नहीं बुला सकते, हम घर-घर जा सकते हैं। जनता का हम तक पहुंचना बहुत मुश्किल है, हमारा जनता तक पहुंचना आसान है। यह चुनाव हमें जनता तक पहुंचने, उसे शिक्षित करने का अवसर देता है—प्रजातंत्र की पहली आवश्यकता है जनता को, प्रत्येक मतदाता को शिक्षित करना। कांग्रेस का घोषणा-पत्र हमें इसका अवसर देता है। व्यक्ति को समाज के पास पहुंचना है, समाज के अर्पित होना है, आत्मा से ब्रह्म तक पहुंचना है।

२. आदर्श

१. आदर्श विजय
२. हिंसा और अहिंसा
३. मनुष्यता और पशुता
४. धर्म और राजनीति
५. आदर्श समाज
६. अहिंसा वीरों का धर्म है
७. पाप क्या है ?

: १ :

आदर्श विजय

प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र का उत्थान और पतन उसके आदर्श के अनुसार होता है। आदर्श ही व्यक्ति या राष्ट्र का नेता है। उसी व्यक्ति को राष्ट्र अपना नेता मानता है जो स्वयं आदर्श का भक्त हो, जो स्वयं आदर्श रूप हो। आदर्श अंतिम गंतव्य स्थान है—व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय जीवन-रूपी रेलगाड़ी का आखिरी स्टेशन है। दरमियानी स्टेशनों की तरह आदर्श की यात्रा में भी अनेक मंजिलें हैं, परंतु रेल के स्टेशन के विपरीत, ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं त्यों-त्यों वह आगे बढ़ता जाता है। इसी कारण कुछ लोग उसे पाना असंभव समझकर छोड़ देते हैं और निराश होकर अपने पिछले मुकाम पर लौट आते हैं। जीवन के आरंभ से लेकर आदर्श तक पहुंचने की यात्रा को ही व्यवहार या अमल कहते हैं। व्यवहार आदर्श का साधन है, पोषक है। व्यवहार आदर्श के लिए है, आदर्श व्यवहार के लिए नहीं है। रेलगाड़ी हमें अपने अभीष्ठ स्थान तक पहुंचाने के लिए है। स्टेशन-हीन रेलगाड़ी की जो दुर्दशा हो सकती है, वही आदर्शहीन व्यक्ति या राष्ट्र की होती है। जो लोग आदर्श का उपहास करके केवल व्यवहार को ही सब-कुछ मानते हैं वे मानों प्राणों की अवहेलना करके शरीर को ही उसका राजा मानने की मूर्खता करते हैं।

आदर्श भगवान् भास्कर की तरह केवल दूर से पूजा करने योग्य वस्तु नहीं है। आदर्श तो हृदय में धारण करने की, आलिंगन करने की चीज है। जो लोग आदर्श का गुणगान तो करते हैं, पर उसके नज़दीक पहुंचने का प्रयत्न नहीं करते वे या तो कमजोर हैं या धोखेबाज़। कमजोर आगे बढ़ नहीं सकता और धोखेबाज का पतन हुए बिना नहीं रह सकता।

यों तो प्राणि-मात्र का आदर्श निश्चित है—मुक्ति, पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण

विकास, परंतु प्राय: प्रत्येक समाज और राष्ट्र के लोगों ने अपने अनुभव, चिंतन, स्वभाव, आवश्यकता, जलवायु आदि के अनुसार अपना भिन्न-भिन्न आदर्श मान लिया है। ये भिन्न-भिन्न आदर्श वास्तव में अंतिम आदर्श की दरमियानी मंजिलें हैं। परंतु बहुतेरे राष्ट्र इस बात को भूल-से गये हैं। पूर्व और पश्चिम के जीवन में यदि कोई खास अंतर है तो यही आदर्श का। पश्चिमी लोगों ने भौतिक विकास को ही, शारीरिक सुख को ही, अपना आदर्श मान रखा है। और पूर्वी लोग आत्मविकास, आत्मिक सुख को अपना आदर्श मानते हैं। वे भौतिक विकास को आत्म-विकास का साधना—दर-मियानी स्टेशन मानते हैं। एक शराब पीना अपना आदर्श मानता है और दूसरा रोग दूर करने को अपना आदर्श मानकर दवा के तौर पर उसका सेवन करता है। यही अंतर पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में है। आदर्श मानकर शराब पीनेवाला जिंदगी भर गटरों और सड़कों पर धूल चाटता फिरेगा और दवा के तौर पर पीनेवाला अपने रोग को दूर करके स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा।

पश्चिमी लोगों की पूर्व पर विजय होने के कारण उनके भौतिक आदर्शों का सिक्का पूर्व के पराजित राष्ट्रों पर जमता गया। विजित भारत यदि दासोचित अनुकरण-प्रथा का शिकार हो गया तो एक तरह से यह क्षम्य था। महात्मा गांधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करने के पहले तक भारत का राजनैतिक जीवन पश्चिम का अनुयायी हो रहा था। उनके संदेश ने यदि भारत में कोई महान कार्य किया है तो यही कि भारतीय राज-नीति ने पश्चिमी शराब के पीपे से निकलकर पूर्वी क्षीर-सागर में प्रवेश कर लिया। भारतीय आदर्श की दिशा में उसका क़दम आगे बढ़ रहा है। कुटिल नीति की लड़ाई को छोड़कर उसने शांतिमय-सत्याग्रह को अपने उद्धार का एक-मात्र साधन मान लिया है। कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के द्वारा राष्ट्र ने पहली बार शांतिमय असहयोग के सिद्धांत और कार्यक्रम पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाई थी, फिर नागपुर और अहमदाबाद में उसने अधि-काधिक दृढ़ता से उसे अपने सिर चढ़ाया। महात्माजी के कारावास के बाद

फिर पश्चिमी तत्वों ने, विदेशी मनोवृत्तियों ने,जोर मारा, पर अंत को गया-तीर्थ में राष्ट्र ने फिर अपने आदर्श की रक्षा कर ली। गया कांग्रेस में महात्माजी के सिद्धांत और कार्यक्रम की जो विजय हुई, उसके बाद जो देश-व्यापी सत्याग्रह युद्ध का बड़ा प्रयोग अबतक हुआ और जिसमें बड़ी सिद्धि मिली, हम स्वतंत्र हुए,यह समझने की एक चीज है। वह किसी व्यक्ति-विशेष की जीत या हार नहीं, वह तो आदर्श की व्यवहार पर, भावना की शुष्क तर्क पर, प्रेम की क्रोध पर, सत्याग्रह-भावना की विरोध पर, क्रांति की वैध-वृत्ति पर और पूर्व की पश्चिम पर विजय है। वह आदर्श की विजय है।

इसमें खूबी यह है कि विजेता और पराजित दल दोनों को अपनी हार-जीत मानने का अवसर नहीं मिलता। विजेता गर्व से उद्धत नहीं हो सकते। कृतार्थता की भावना उन्हें अकर्मण्य नहीं बना सकती। वीर तो विजय पाने पर अधिक विनयशील और अधिक क्षमाशील हो जाता है। परंतु असंतुष्ट और उग्र भाई क्रोध और निराशा से पैदा होनेवाली प्रतिहिंसा का रंग अपने पर न चढ़ने दें। हम न भूलें कि भारत में नवीन युग का श्रीगणेश हो गया है। हमारे पुरातन आदर्श का नवविकास आरंभ हो गया है। इस विकास-प्रवाह को रोकने में संसार की कोई शक्ति अब समर्थ नहीं हो सकती। जिन तत्त्वों और शक्तियों को लेकर इस आदर्श की विजय हुई है, वे भी अपनेको गलत मूल्यों के भुलावे में आने से बचावें। हम न भूलें कि यह जीवन रण-भूमि है। धर्म और अधर्म का, पाप और पुण्य का, ईश्वर और शैतान का, संग्राम इसमें निरंतर होता रहता है। हमारा राजनीतिक संग्राम, हमारा स्वराज्य-युद्ध, इसी आंतरिक रण का एक स्थूल रूप था। संग्राम जीवन का धर्म है। संग्राम के बिना जीवन नीरस है, निस्तेज है। सजीव आत्मा, वीर-आत्मा, जीवन की कठिनाइयों की ललकार पर अधिक जीवन पाती है, अधिक स्फुरण पाती है। ईश्वर को यह निश्चय करा दो कि उसका काम आपके हाथों सुरक्षित है। भारत का यह विश्वास न डिगने पावे कि उसके आदर्श को आपने पहचान लिया, आप उसपर मुग्ध हो चुके हैं—उसपर अपनेको न्यौछावर करने के लिए आप सर्वदा तत्पर हैं।

: २ :

हिंसा और अहिंसा

कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका संबंध हृदय के विकास से, अथवा मन की वृत्तियों के सुसंस्कारों से जितना है उतना बुद्धि-वैभव से नहीं। जैसे सत्य, अहिंसा अथवा प्रेम ये बातें ऐसी हैं, जिन्हें दलील या बुद्धि के चमत्कार के द्वारा कोई किसीको अच्छी तरह नही समझा सकता। जिन्होंने इनको अपने जीवन का धर्म बना लिया है, जो इनके अनुसार जीने का प्रयत्न करते हैं, उनको बिना दलील के ही इनके लाभों का आनंद और सुख मिलता रहता है और ऊपर-ऊपर देखने से जो हानि या महा-संकट मालूम होता है उससे वे विचलित नहीं होते। यदि शक्कर की मिठास कोई किसीको समझाने लगे तो यह जिस प्रकार कठिन है उसी प्रकार उससे बढ़कर कठिन है सत्य, प्रेम या अहिंसा के मर्म और स्वाद को समझा देना। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की गति इनमें होती जाती है और वह जैसे-जैसे इनके अनुभव में आगे बढ़ता जाता है, तैसे-तैसे इनके रूप के संबंध में उसकी धारणाएं अधिक व्यापक, सूक्ष्म और गहरी होती चली जाती हैं और उन तमाम अवस्थाओं को पाठकों के सामने खोलकर रख देना मनुष्य की वाणी और लेखनी की मर्यादा और शक्ति के बाहर हो जाता है। फिर भी बुद्धि-प्रधान मनुष्य तो उन्हें बुद्धि के ही द्वारा समझने की चेष्टा करता है और समझानेवाला भी उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार समझा सकता है। वह यदि इसमें पूर्ण सफल नहीं होता है तो यह सत्य, अहिंसा या प्रेम का दोष नहीं है, उनके गुण, महत्ता या सौंदर्य की कमी नहीं है, बल्कि मनुष्य के अपने सामर्थ्य की मर्यादा का सूचक है।

सत्याग्रहाश्रम साबरमती में एक रोग-पीड़ित महा व्याकुल गाय के बछड़े को ज़हर की पिचकारी लगाकर मार डालने के प्रश्न पर हिंसा-अहिंसा का भारी विवाद छिड़ गया था। इस संबंध में महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये थे उन्हें सुनकर कितने ही अहिंसावादी भी बड़े चक्कर में पड़

गये थे, अहिंसा-संबंधी उनकी पुरानी धारणाओं को गहरा धक्का पहुंचा था और महात्माजी के फलितार्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आये थे। उस समय जो विवाद चला उसमें समझ लेने लायक बातें सिर्फ़ दो हैं—१. अहिंसा का मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है; (२) प्राण-हरण का अहिंसा में स्थान है अथवा नहीं; है तो कितना और किन-किन अवस्थाओं में ?

मेरी समझ में अहिंसा की सीधी व्याख्या यह है—अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुंचाना। मनुष्यता और पशुता में, मानव-भाव और पशु-भाव में मैंने यही विभाजक रेखा, यही मर्यादा समझी है। अर्थात् मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति उतना ही अधिक मनुष्य है, उसमें उतना ही अधिक मानव-भाव है जितना अधिक वह अपने लाभ और सुख के लिए दूसरों को कष्ट न पहुंचाता हो और वह उतना ही अधिक पशु है या उसमें उतना ही अधिक पशुभाव विद्यमान है जितना कि वह अपने लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अहिंसा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं :

(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो, और

(२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुंचता हो।

बछड़े को ज़हर देने में अहिंसा की इन दोनों शर्तों का पूरा-पूरा पालन हो जाता है। (१) उसके मारने में महात्माजी का या आश्रमवासियों का कोई स्वार्थ-भाव न था और (२) न केवल उसके शरीर या मन या आत्मा को कष्ट नहीं पहुंचाया गया, बल्कि उसके कष्ट की वेदना और व्याकुलता का अंत कर दिया, उलटा उसे सुख पहुंचाया गया।

अब रहा यह प्रश्न कि आखिर यह प्राण-हरण तो हुआ ही। और आगे चलकर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण से बढ़कर कष्ट और हिंसा दूसरी क्या हो सकती है ? यहां हमको यह सोचना चाहिए कि अहिंसा के जिस मूल स्वरूप को मानकर हम चले हैं वह हमें कहां ले जाता है। क्षण-भर के लिए हम इस बात को भूल जायं कि आजतक हम अहिंसा के नाम पर किस चीज़

को मानते चले आये हैं। और उसके संबंध में किस ग्रंथ में क्या लिखा है। अहिंसा में मुख्य बात है कष्ट न पहुंचाने की। अब यदि प्राण रखने से कष्ट अधिक पहुंच रहा है और प्राण-नाश से कष्ट का अंत हो जाता है तो एक अहिंसक की अंतरात्मा ऐसे समय क्या कहेगी और उसे क्या करने की प्रेरणा करेगी? उत्तर स्पष्ट है—जिससे कष्ट का अंत हो वही करो। और यही महात्माजी ने किया था।

इसपर यह कहा गया है कि प्राण-हरण स्वयं ही एक महाकष्ट देने की क्रिया है, अतएव घोर हिंसा है। इसपर हमारा कहना यह है कि मृत्यु तो, जन्म की तरह, प्रकृति का सामान्य नियम है। हम,भारतवासियों ने खामखा उसे एक हौवा बना रखा है। हां, अपने या अपने समाज के लाभ के लिए जब किसीका प्राण-हरण या जीवन-नाश किया जाता है तब वह दोप अवश्य है और तब वह हिंसा जरूर है। पर यदि उस प्राणी के लाभ के लिए, उसकी पीड़ा दूर करने के लिए, प्राण-हरण किया हो तो वह अहिंसा है, यदि हमारे अपने लाभ के लिए किया गया हो तो वह हिंसा है। हिंसा और अहिंसा का निर्णय करते समय हमें सदा-सर्वदा यह बात अपने ध्यान में रखनी चाहिए कि यह हम किसके स्वार्थ या लाभ के लिए कर रहे हैं।

यहां शंकाकार कहते हैं कि फिर तो अहिंसा में कृति नही, भावना ही सब-कुछ रही। और जब भावना की ही शुद्धि का विचार है तब समाज को कष्ट पहुंचानेवाले पशुओं और आततायी मनुष्यों का वध करना क्योंकर हिंसा कहा जा सकता है, जबकि भावना बिल्कुल शुद्ध है और जबकि लोक-हित ही हमारा परम उद्देश्य है? इसका उत्तर यह है कि अहिंसा में भावना की शुद्धि तो सर्वत्र अनिवार्य है और भावना-शुद्धि का अर्थ लोक-हित नहीं, बल्कि बध्य माने जानेवाले प्राणी को कष्ट न देने का भाव है। भाव-शुद्धि के साथ कृति भी अहिंसक होनी चाहिए। कृति की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि भाव की शुद्धता। मार डालने की क्रिया, आजतक की धारणा के अनुसार, शुद्धता की परिभाषा में नहीं आ सकती। सो यदि आज-

कल की धारणा को ही निर्भ्रम और ठीक मान लें तो फिर यह कह सकते हैं कि सिर्फ ऐसे ही प्रसंगों पर कृति की अशुद्धता अपवाद मानी जा सकती है, क्योंकि अहिंसा के मूलस्वरूप के अनुसार वह हिंसा नहीं कही जा सकती। अब यह दूसरी बात है कि हिंसा के एक दोष होते हुए भी हमें, जबतक जिंदगी है, लाचार होकर कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है; पर इसलिए हम उसे अहिंसा या निर्दोष नहीं कह सकते। हां, क्षम्य और अक्षम्य हिंसा, ये दो भाग तो किये जा सकते हैं, पर हिंसा अहिंसा में किसी प्रकार नहीं खप सकती।

इसी तरह समाज के लाभ के लिए यदि किसी पशु या मनुष्य का बध करना, या उसे कष्ट पहुंचाना अनिवार्य हो गया हो तो उसे हम क्षम्य कोटि की हिंसा गिन लें, यह तो शायद हो सकता है, पर उसे अहिंसा तो किसी तरह नहीं कह सकते। फिर सामाजिक दृष्टि से पशुबध से मनुष्य-बध ज्यादा भयंकर और ज्यादा सदोष है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान और हृदयवान् है, इसलिए अनेक प्रकार के प्रभावों का असर उसपर हो सकता है और फलस्वरूप उसके सुधार की बहुत आशा रखी जा सकती है। अतएव अहिंसा में कोरी भावना-शुद्धि को अपने मतलब की बात समझकर यदि कोई भाई उससे समाज की रक्षा के लिए मनुष्यवध को जायज और अहिंसात्मक मानने और समझने लगे तो हमारी राय में वह अपनी समझ के साथ अन्याय करेगा और आत्म-वंचना के दोष से लिप्त होगा।

: ३ :

मनुष्यता और पशुता

मनुष्य विकास-मार्ग में पशु से कई दर्जा आगे बढ़ चुका है। पशु में भावना और तर्कशक्ति की बहुत थोड़ी ही झलक पाई जाती है। पशु में प्रेम, रक्षा और दया के भाव हैं तो, परंतु वे उनके आत्मजों तक, कुछ ही काल के

लिए मर्यादित ह । वसे तो एक कुत्ता अपने स्वामी की रक्षा में अपनी जान तक दे सकता है । मनुष्य और पशु में अंतर यह है कि मनुष्य उदाहरणों और अनुभवों की तौल एवं विवेक के द्वारा निश्चय करता है और पशु केवल स्वभाव और प्रकृत प्रेरणा (Instinct) के कारण वह काम करता है । मनुष्यों में बुद्धि और हृदय के विवेक, सारासार-विचार, कर्त्तव्य-पालन बुद्धि, क्षमा, उदारता, दया, प्रेम, तितिक्षा, संयम, शांति आदि जिन-जिन गुणों का जितना विकास हुआ है उतना पशुओं में नहीं । इसलिए पुरुष पशुओं से श्रेष्ठ माना गया है । मनुष्य के उन्ही भावों की बदौलत आज हम मनुष्य के यहां कुटुंब, समाज, राज्य, व्यवस्था, संगठन, सहयोग आदि पाते हैं । मनुष्य चाहे कितना ही गिर जाय, वह पशु-कोटि में कदापि नही पहुंच सकता । हां, यह सच है कि कभी-कभी कुछ-कुछ बातों में जैसे दुर्व्यसन, व्यभिचार, चोरी और हिंसा-कांड में मनुष्य पशु को भी शर्मिदा कर देता है । फिर भी वह पशु नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भूलों से सबक सीखने की, पापों का प्रायश्चित करने की, अपनी आत्मा का सुधार करने की जो प्रवृत्ति या शक्ति होती है, वह पशु में नहीं पाई जाती । इस अंतर को न तो हम भुला सकते है, न इसके महत्व की उपेक्षा की जा सकती है । स्वराज्य-आंदोलन में इसी भेद को समझकर महात्माजी ने अहिंसा-वृत्ति का व्यापक प्रयोग किया था और इसी नींव पर उसकी विजय का दारोमदार था ।

फिर भी कुछ लोग इस मत का प्रतिपादन करते जा रहे हैं कि अहिंसा मनुष्य के स्वभाव के विपरीत है । स्वयं कष्ट सहकर दूसरे के मनुष्यत्व को जाग्रत करना आत्मघात है । इस पद्धति से हम स्वयं अपनी हानि करते ह और प्रतिपक्षी को अपनी सज्जनता से बेजा लाभ उठाने का मौका देते हैं । वे कहते है कि कष्ट-सहन और आत्म-बलिदान की इस विधि से सरकार अर्थात् प्रतिपक्षी पर कुछ भी दबाव नहीं पड़ता है । चतुराई और बुद्धिमानी तो इस बात में है कि शत्रु का अधिक-से-अधिक नुकसान हो और हमारा कम-से-कम । शत्रु को और उसके सैनिकों को कैद करना तो एक ओर रहा —यहां तो उलटे हमारे ही सैनिक और सेनापति सबसे पहले जेल

जा बैठते हैं और शत्रु तो अप` घर में उसी तरह सुरक्षित है। यह संसार के आजतक के अनुभव के खिलाफ है। इतना ही नहीं, देश से इतने कष्ट-सहन, आत्मोत्सर्ग की आशा और आग्रह करना कि जिससे विरोधी अपनी कुचाल छोड़कर सीधी राह पर आ जाय, मनुष्य के स्वभाव-धर्म के विरुद्ध है। सरकार तो एक यंत्र है। यंत्र की कही आत्मा होती है ? किसी सरकार से अपने पापों के प्रायश्चित्त या आत्मा के सुधार की आशा करना पक्की वेश्या से पतिव्रता होने की आशा करना है।

इन विचारों से कोई भी सत्याग्रही सहमत नहीं हो सकता। हां, ऐसे विचार रखनेवालो की शोचनीय अवस्था पर सहानुभूति अवश्य हो सकती है। इसमें पहली भूल जो लोग करते है यह है कि वे पशु और मनुष्य के पूर्वोक्त अंतर को भुला देते हैं। दूसरे, मनुष्य को पशु मानना अर्थात् पशु की तरह उसे आत्म-सुधार-शक्ति से ही हीन मानना, मनुष्य-जाति के प्रति अक्षम्य अपराध है। यदि हम स्वयं अपनी भूलो का सुधार करते हैं, अपने पापों पर पश्चात्ताप करते है तो हम यह मान ही नही सकते कि संसार के किसी मनुष्य में यह शक्ति नही है--या नष्ट हो गई है। हां, एक समय ऐसा आता है जब पापी मनुष्य की यह शक्ति उस पाप के अमित बोझ से इतनी दब जाती है कि उसका रहना न रहना बराबर हो जाता है। पर वह अवस्था उसके अंत की ही अवस्था है। कोई जल्दी संभल जाते हैं, कोई देर से संभलता है। यह तो संस्कारों पर अवलंबित है और जो नहीं संभलते हैं वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति का सिद्ध नियम है।

यदि हमारे आत्मोत्सर्ग और कष्ट-सहन से विरोधी शक्तियों की मनुष्यता जाग्रत नहीं दिखाई देती तो हमें हताश होने या धीरज छोड़ देने की जरा भी जरूरत नहीं है। हमारे सत्याग्रह-आदोलन की नैतिक शक्ति ने संसार पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। सरकार चाहे एक कल-रूप हो, पर उसके विधाता मनुष्य ही हैं और विधाता अपनी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, परिवर्तन सबकी शक्ति रखता है। यंत्र से उसका विधाता हर हालत में श्रेष्ठ और उच्च होता है।

दूसरी भूल वे यह करते हैं कि वे शस्त्र-युद्ध और शांति-युद्ध, दोनों के सिद्धांतों और नियमों की खिचड़ी कर देते हैं। सिद्धांतत: शस्त्र-युद्ध को हम मनुष्योचित नहीं मानते। मनुष्य को पशु-बल धारण करते हुए या उसका उपयोग करते हुए देखकर मनुष्यता की दृष्टि में हमारी गर्दन झुक जाती है। अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे का खून करना, एक-दूसरे पर अत्याचार और आक्रमण करना बुद्धि और भावनावाले मनुष्य के कानून में जायज़ नही मना जा सकता। हां, सत्य और धर्ममूलक स्वार्थ की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, पर वह मनुष्य रहकर ही उसकी रक्षा या प्राप्ति कर सकता है। जब एक ओर स्वार्थ की रक्षा करनी है और दूसरी ओर पशुता अंगीकार करनी पडती है, ऐसी अवस्था में सच्चा वीर अपने प्राण रहते मनुष्योचित शांति के साथ उसकी रक्षा करेगा। उसके लिए अपने प्राण भी गंवा देगा, पर पशुता को कभी स्वीकार नहीं करेगा। कभी अपने कमजोर और पतित भाई पर हाथ उठाकर अपनी निर्बलता का परिचय न देगा। शस्त्र-युद्ध अथवा कठोर सत्य कहें तो पशु-बल के युद्ध में शत्रु को अधिक-से-अधिक हानि और अपनेको कम-से-कम हानि पहुंचाना वीरता का और खुद बचे रहकर शत्रु को कैद कर लेना बुद्धिमानी का चिह्न समझा जाता है, परंतु शांति-युद्ध में ऐसा नहीं होता। शस्त्र-युद्ध प्रतिपक्षी के मन और हृदय पर कब्जा करना चाहता है और यह स्वयं कष्ट सह-कर ही, आत्म-बलिदान करके ही, किया जा सकता है। शस्त्र-युद्धवाले अपने को परस्पर शत्रु मानते हैं। अतएव वे परस्पर आक्रमण, रक्तपात को जायज़ मानते है; पर शांत-युद्धवाले अपने प्रतिपक्षी को भूला-भटका मनुष्य—अपना ही एक भाई मानते है। इसलिए वे स्वयं कष्ट उठाकर अपना और दोनों का हित करते है। जो लोग मनुष्य को मनुष्य मानते है, अपनी ही तरह दूसरे को भी भूल और पाप कर सकनेवाला और आत्म-सुधार-क्षम मानते है वे शांति-युद्ध को ही मनुष्योचित युद्ध मान सकते हैं।

भारत ने इस सिद्धांत को व्यापक रूप से अपनाकर अपने उन्नत मनुष्यत्व और परिष्कृत वीरता का परिचय संसार को दिया है और एक

दिन आवेगा जब इस देन के लिए संसार को उसके चरणों पर सिर झुकाना पड़ेगा। मनुष्य-जाति के इतिहास में सामूहिक पशुता के ऊपर सामुदायिक मनुष्यता की विजय की यह पहली तैयारी है। परमेश्वर हमारे पशु-बल और पशु-भाव को दिन-दिन क्षीण करें और हमें मनुष्य के सच्चे बल और भावों को पहचानने और अपनाने में अधिकाधिक अग्रसर करें, जिससे अकेला भारत ही नहीं, सारी मनुष्य-जाति पशुता की अंधेरी खाई से निकलकर मनुष्यता के राज-मार्ग पर आ जाय और विकास-कक्षा में अपने मनुष्य-नाम को सार्थक करे।

: ४ :

धर्म और राजनीति

"धर्महीन राजनीति गले की फांसी है।"

—मो० क० गांधी

धर्म वीर है, पर कायर इसे अपनी बुज़दिली की ढाल बनाता है। धर्म निर्भय है, पर डरपोक बली से अपनी जान बचाने के लिए उसकी शरण जाता है। धर्म आज़ाद है, पर गुलाम उसका उपयोग अपनी बेड़ियां मजबूत करने में करता है। धर्म के नाम पर, धर्म की ओट में, क्या-क्या अनर्थ संसार में नही होते? धर्म की दुहाई देकर एक देश दूसरे देश को चूसता है, धर्म की रक्षा के लिए आपस में तलवारें चलती हैं—भाई भाई के खून की नदी बहाता है। धर्म तो कहता है, मैं लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए हूं, प्रेम के लिए हूं, सत्य के लिए हूं; पर धर्म के मतवाले उसकी सुनें तब न! बुरे-से-बुरे पापाचार और अत्याचार धर्म की साया के नीचे किये जाते हैं। इस उल्टी गंगा के दो फल दिखाई देते हैं—धर्म से लोगों की श्रद्धा उठ जाना और अधर्म को धर्म समझ बैठना। पहले दल में अधिकतर पढ़े-लिखे सुशिक्षित कहलानेवाले लोग हैं और दूसरे समाज में ज्यादातर

कम पढ़े-लिखे या गंवार लोग। पहले दल के लोग ऊपरी गंदगी को देखकर भीतरी सार-वस्तु को भी मैली समझ रहे हैं और दूसरे दल के लोग तो उसी गटरगंगा को धर्म मानकर धर्म की विडंम्बना करते हैं। एक गेरुआ पहननेवाले को, तिलक-छापा करनेवाले को, ढोंगी और पाखंडी मानता है और दूसरा साक्षात् धर्म और ईश्वर का अवतार। वास्तव में देखा जाय तो धर्म, धर्म-तत्त्वों को समझकर उसके अनुसार आचरण करने में है; कण्ठी, छापा, भभूत, गेरुआ आदि तो उसके बाहरी चिह्न-मात्र है। वे केवल यह दिखलाते है कि अमुक मनुष्य धर्माचरण के किस दर्जे का साधक है।

अच्छा तो धर्म क्या ?

"यतोऽभ्युदयनि.श्रेयस सिद्धिः सधर्मः।"

अर्थात्—"जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में सुख मिले वही धर्म है।" दूसरे शब्दों में मानवी जीवन के स्वाभाविक पूर्ण विकास का जो मार्ग है, जो नियम है, उसे धर्म कहते है। इसके विपरीत जो है वह सब अधर्म कहलाता है। धर्म शास्त्रीय शब्द है, कर्तव्य लौकिक या सामाजिक। कर्तव्य धर्म का स्थूल रूप है। मनुष्य इस धर्म-मार्ग पर चलने के लिए निसर्गतः स्वतंत्र है। इस आज़ादी के बिना वह एक क़दम भी आगे नही बढ़ सकता। उसकी इस आज़ादी में बाधा डालना, उसकी स्वतंत्रता छीनना है, प्रकृति देवी का अपराध करना है और मनुष्य-जाति की उन्नति में बाधक होना है। आज़ादी धर्म की सहायक है। अतएव मानवी जीवन के लिए दो बातें परम आवश्यक हैं।

१. धर्म का पालन, २. पूरी आज़ादी।

इस विकास-क्रम में मनुष्य को कई स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। यही जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग और अवस्थाएं ह। इनमें म ुष्य जो कुछ पाता या सीखता है वही संस्कार बनता है। 'संस्कृति' शब्द इसी संस्कार से बनता है। जिसकी संस्कृति जितनी अच्छी होती है उतना ही उसका विकास सुगम और शीघ्र होता है। पश्चिमी या भौतिक संस्कृति हमारे लिए इसी कारण हानिकर है कि वह धर्म-मार्ग से कोसों दूर चली गई

है। उसने धर्म को राजनीति के हाथ में बेच दिया है, उसमें पशु-वृत्ति की प्रधानता हो गई है, उसकी गति पतन की ओर है।

मनुष्य समाज-शील है। जो व्यक्ति का ध्येय है वही समाज का ध्येय है। समाज की स्थिति और रक्षा तथा मनुष्य के पारस्परिक संबंधों के लिए जो नियम बनाये गये है, उन्हें नीति कहते है। वे व्यक्तिगत विकास के बाधक नही हो सकते। समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नही है। व्यक्ति और समाज के हित एक ही है। व्यक्ति के विकास-मार्ग से समाज का विकास-मार्ग भिन्न नही हो सकता। समाज की रक्षा के नियम समाज के विकास-मार्ग अर्थात् नीति-धर्म को छोड़कर नही रह सकते। धर्म पति है, नीति उसकी गृहलक्ष्मी है। धर्म जीवन का नियामक और नेता है, नीति जीवन को धर्म पालन के योग्य बनाती है, धर्म की अनुसारिणी है। समाज ऐसा कोई नियम नहीं बना सकता जो धर्म-तत्व के विपरीत हो और यदि बनावे तो व्यक्ति उसको न मानने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि वह नीति नही, अनीति है।

राज्य समाज का एक अंग है। समाज का भरण-पोषण, रक्षण और शिक्षण उसका प्रधान कर्तव्य है। समाज ही अपनी सुविधा और आवश्यकता के अनुसार राज्य की सृष्टि करता है। वहां राज्य को अपनी सत्ता का कुछ अंश प्रदान करता है। समाज के संकेत और व्यवस्था के अनुसार काम करना राज्य का कर्तव्य है। कर्तव्य का पालन ठीक-ठीक न होने पर समाज इस राज्य-संस्था को तोड़कर दूसरी संस्था कायम कर सकता है। इसीको सरकार कहते हैं। अतएव राजनीति समाजनीति का एक अंग हुई। समाज-नीति धर्म-नीति के प्रतिकूल नही हो सकती। अतः राजनीति भी धर्म के शासन के बाहर नही जा सकती। राजनीति धर्म की सेवक है। राज्य धर्म के रक्षण के लिए है, भक्षण के लिए नहीं। वह राज्य या सरकार सबसे श्रेष्ठ है, जो समाज पर कम-से-कम शासन करती हो। जिस राज्य में प्रजा को यह न मालूम हो कि हमपर कोई राज कर रहा है, कुछ बोझ या दबाव हमपर है, वही राज्य सर्वोत्तम है और जिस राज्य में प्रजा पग-पग पर

पीड़ित, अपमानित हो रही हो, लूटी जा रही हो वह तो नरक के समान है। उस राज्य के अधीन रहना अपने मनुष्यत्व को खोना है। वह पाप है।

आदर्श और उत्कृष्ट राज्य वही हो सकता है ज़िसके संचालक प्रजा के चुने हुए लोग हों, जो प्रजा के मत के अनुसार उसकी भलाई के ही लिए उसे चलाते हों। इसीको स्वराज्य कहते हैं।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भारत धर्म को आत्म-विकास का मार्ग मानता है, लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन मानता है। धर्म के बिना न उसका जीवन है, न गति है। उसका जन्म, जीवन और मृत्यु तीनों धर्ममय ह; उसका समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीति, राजनीति-विज्ञान सब धर्म की बुनियाद पर स्थिति हैं—होने चाहिए। सबका ध्येय धर्म-पालन है। वह व्यक्ति न राज्य की सेवा कर सकता है, न धर्म की, जो राजनीति को धर्म से पृथक् मानता हो। वह शास्ता और शासक अधर्मी है, जो प्रजा को झूठ बोलने पर मजबूर करता हो, जो उसके हुक्म पर प्रजा के दब जाने और डर जाने पर मूंछों पर ताव देता हो। वह प्रजा अधर्मी है,जो असत्य और भय के भावों को अपने हृदय में स्थान देती हो जो सच बात कहते हुए डरती हो और दबती हो। जहां धर्म है वहां भय और असत्य नहीं, और जहां भय और असत्य है, वहां धर्म नहीं। वे पाखंडी है,जो धर्म के नाम पर लोगों को सच बोलते हुए रोकते हों, निर्भय रहने में ख़तरा बताते हों और बुज़दिली पर अक्लमंदी और दानाई का मुलम्मा चढ़ाते हों।

: ५ :

आदर्श समाज

गांधीजी कोरे आदर्शवादी नहीं थे। वह आदर्श का उल्लेख करके उसके व्यावहारिक रूप पर विशेष जोर देते रहते थे। अतः उनके लेखों व वाक्यों को पढ़ते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कौन-सी बात तो

वे आदर्श अवस्था के लिए कह रहे हैं और कौन-सी वर्तमान अवस्था के लिए व कौन-सी संधिकाल के लिए। अपने सामाजिक आदर्श में वे अराजकवादी कहे जा सकते हैं, जिसका यह अर्थ हुआ कि समाज में किसी प्रकार की कोई सरकार न रहे, सब लोग अपने घर-घर के राजा हो जावें। इसी आदर्श को कहीं उन्होंने 'राम-राज्य' कहीं 'सर्वोदय' और कहीं 'अहिंसक स्वराज्य' आदि नामों से पुकारा है। लेकिन समाज की अंतिम अवस्था का यह चित्र एकाएक समझ में नहीं आता। क्या सचमुच मनुष्य इस पृथ्वी तल पर कभी इतना उन्नत—देवता या संत-मुनि की तरह निःस्पृह, निरपेक्ष हो जायगा, जिसके लिए किसी छोटी या बड़ी सामूहिक व्यवस्था की भी आवश्यकता न रहेगी ? मेरी बुद्धि जहांतक पहुंचती है उस आदर्श समाज में छोटी-छोटी पंचायतों के रूप में कई व्यवस्था मंडल, रहेंगे, सारे देश या राष्ट्र के लिए एक बड़ी पंचायत के रूप में एक केंद्रीय व्यवस्था-मंडल रहेगा और रह सकता है। वह दंड के बल से शासन नहीं करेगा, इसलिए आज की भाषा में वह सरकार नही कहा जायगा।

अब यह सवाल उठता है कि उसमें व्यक्तिगत संपत्ति रहेगी या नहीं, और रही तो उसका क्या स्वरूप होगा ? यह तो मानना होगा कि उस आदर्श समाज में संपत्ति रहेगी और उसकी व्यवस्था समाज को करनी पड़ेगी। अब या तो सारी संपत्ति पर सामाजिक नियंत्रण बल्कि नियमन रखा जाय या मूलभूत उद्योगों (Key Industries) अथवा उत्पादन के साधन पर। देश के सभी उद्योग-धंधे केवल सामाजिक नियंत्रण या नियमन में किस प्रकार चल सकेंगे, यह बात अभी दिमाग में नही समाती। यही ज्यादा व्यावहारिक और सम्भवनीय मालूम होता है कि मूल-भूत उद्योग अथवा साधन तो समाज अथवा राज के नियमन में रहें और दूसरे बड़े उद्योग-धंधे व्यक्तिगत नियमन से चलें। ट्रस्टीशिप का सवाल इन व्यवित-गत नियमन में चलनेवाले उद्योग-धंधों के संबंध में पैदा हो सकता है। एक तरह से यह छोटे और बड़े सब व्यवस्थापक मण्डल ट्रस्टी ही होंगे। राजसंस्था (State) भी तो उस समय सारे समाज के लिए एक ट्रस्टी का

ही काम करेगी। तो यों कहना चाहिए कि दो प्रकार के ट्रस्टी रहेंगे—एक सामाजिक और सामूहिक रूप में काम करेंगे जैसे राजसंस्था और दूसरे वैयक्तिक रूप में। ट्रस्ट शब्द का आज भी कानून में एक खास अर्थ है और ट्रस्टियों पर आज भी कानून के अनुसार कुछ जिम्मेदारियां हैं, जिनके न निबाहने पर ट्रस्टी राज-नियमानुसार दोषी माने जाते हैं। महात्माजी का 'ट्रस्टी' शब्द इसी कानूनी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए अर्थात् यह कि आदर्श व्यवस्था में जो व्यक्ति छोटे-बड़े काम-धंधे करेंगे वे उसके मालिक नहीं होंगे बल्कि राज-व्यवस्था के अनुसार उनके ट्रस्टी होंगे और राज-नियमानुसार उसका संचालन करते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। न करने की अवस्था में राज-नियमानुसार अपराधी समझे जायंगे और उनके लिए उचित कार्यवाई की जायगी।

तो यह सवाल उठता है क्या कि पूजीपति आदि अपने-आप ट्रस्टी बन जायंगे? इसे भी स्पष्ट समझ लें।

यह तो मानकर ही चलना होगा कि यह चित्र आज की अवस्था का नहीं है, बल्कि उस अवस्था का है जबकि जनता का राज्य स्थापित हो गया होगा। अर्थात् देश में जगह-जगह छोटे पंचायती राज्य कायम हो चुके होंगे और उन सबके ऊपर एक बड़ी पंचायत बनी होगी, जिसे 'हिंदुस्तान पंचायत' कह सकते हैं। इनमें मूल उद्योग (Key Industries) पंचायतों के द्वारा चलेंगे और छोटे उद्योग व्यक्तियों द्वारा। ट्रस्टीशिप का सवाल छोटे उद्योगों से ताल्लुक रखता है। इन छोटे उद्योगों को चलानेवाले गांधीजी के राज्य में उन उद्योगों के मालिक नहीं, बल्कि ट्रस्टी रहेंगे। ट्रस्ट का एक कानून रहेगा जैसाकि आज भी है। मगर उसमें काफी सुधार कर दिये जायंगे। जब सरकारी कानून ही ऐसा हो जायगा कि मूल उद्योग सरकार के द्वारा चलें और छोटे उद्योग ट्रस्टियों द्वारा तो फिर यह सवाल ही कहां रह जाता है कि पूंजीपति अपनी खुशी से कैसे ट्रस्टी बन जायंगे। हां, आज जो शासन-व्यवस्था है, उसके अनुसार व्यक्ति अपनी कमाई का आप मालिक है परंतु आगे चलकर यह व्यवस्था हमें बदलनी होगी। अब

जब कानून बनाने की सत्ता हमारे हाथ में ग्रा गई है तो सुविधानुसार कानून के द्वारा देश के तमाम उद्योगों की व्यवस्था उपरोक्त प्रकार से कर देंगे। किंतु हां, जबतक बहुमत इस पक्ष में न होगा तबतक या तो हमें इंतजार करना होगा या फिर जल्दी ही दूसरी क्रांति करनी होगी।

यह क्रांति एकदेशीय न होगी, क्योंकि व्यापक व सही दृष्टि से देखा जाय तो सारा विश्व एक-दूसरे से ग्रभिन्न व संलग्न है, ग्रतः हम किसी एक देश या समाज का विचार ऐकांतिक रूप से कर ही नहीं सकते। रेल, हवाई जहाज, टेलीफोन, रेडियो ग्रादि ने व्यावहारिक रूप से भी सब देशों को एक-दूसरे के इतना नजदीक ला दिया है कि हम सब विचार-भिन्नता की दृष्टि से बहुत ज्यादा कर ही नही सकते। देशों या राष्ट्रों की समस्याएं भी ग्रब इतनी स्पष्ट, व्यापक ग्रौर सर्वग्राही होती जा रही है कि ग्रकेले रहकर कोई भी देश उनको हल नही कर सकता है। मुझे तो सीधी समस्या एक ही दिखाई देती है—सारा मनुष्य-समाज दो प्रकार के लोगों में बंट-सा गया है—एक ग्रमीर, दूसरा गरीब; एक पीड़क, दूसरा पीड़ित; एक शासक, दूसरा शासित।

ग्रब यह विभाजन बहुत कृत्रिम हो गया है व इसने महान् ग्रन्याय तथा ग्रत्याचार का रूप धारण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप संसार की तमाम छोटी, पिछड़ी, ग्रशिक्षित, दबी, गुलाम, गरीब जनता का कोई वाली-वारस नही दिखाई पड़ता। जितनी सुख-सुविधा—स्वतंत्रता है उसके मुस्तहक, ठेकेदार, कुछ विशिष्ट लोग या वर्ग—जैसे हो गये है ग्रौर ग्रधिकांश जनता ग्रपने पालन-पोषण व रक्षा के लिए उन्हीकी ग्रोर मुंह उठाये रहती है।

इस दृष्टि से भारत ग्रौर विश्व की समस्याएं भिन्न नहीं है ग्रौर उनका एक ही हल है ग्रादर्श समाज की स्थापना करना, फिर उसे चाहे ग्राप 'सर्वोदय' कहें, 'समाज-सत्ता-प्रधान' कहें, 'कल्याणकारी' कहें। जिस समाज में ऊंच-नीच, गरीब-ग्रमीर, हाकिम-महकूम, का भेद न रहे—समता, न्याय, शांति ग्रौर सहयोग का भाव रहे, ऊपर के बंधनों की

बजाय भीतरी नियंत्रण रहे--वही आदर्श समाज हो सकता है। उसीकी स्थापना के लिए हमें दिन-रात अथक परिश्रम करना चाहिए।

: ६ :

अहिंसा वीरों का धर्म है

अहिंसा-धर्मी को सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि अहिंसा मुर्दे का या कायर का धर्म नहीं है, बल्कि जिंदों का और वीरों का जीवित धर्म है। अत्याचार को, संकट को, अनुभव न कर सकना जड़ता और मुर्दापन है। अनुभव करते हुए उनसे डर या दब जाना, भाग खड़े होना, मुह छिपा जाना, उसका कुछ प्रतिकार न करना कायरता है। जो मनुष्य न तो अत्याचार या दुःख का अनुभव करता हो न प्रतिकार, और फिर भी अपनेको अहिंसा-व्रती कहता हो तो या तो वह मूर्ख है या पाखण्डी। अहिंसा में प्रतिकार का भाव तो है, परंतु प्रतिकार की विधि दूसरे को अपने लिए कष्ट देना नहीं, अत्याचारी को दण्ड देना या उसका वध करना नहीं, बल्कि स्वयं अपने कष्ट सहन की पराकाष्ठा कर देना, अपने प्राण तक को उसमें झोंक देना है। सच्ची वीरता और निर्भयता क्या है? जिसने अनुचित संकट और अत्याचार का मुकाबला करने के लिए स्वेच्छा से दूसरे अनेक संकटों, कष्टों का और प्राणांत तक का आवाहन कर लिया, उनकी वीरता का मुकाबला भला क्या हो सकता है? भाग जानेवाले की अपेक्षा प्रहार करके रक्षा करनेवाला जरूर वीर है, परंतु प्रहार करने में अपनी जान बचाने की कमजोरी फिर भी छिपी रहती। पर अहिंसा-व्रती तो, अपने प्राणों को हथेली पर लिये रहता है। दुर्दशा के साथ अपमानित होकर, रोग-जाल से जकड़ा जाकर, भार-भूत होकर, पद-दलित होकर जीने की अपेक्षा वह मरने को हजार बार पसंद करता है। महात्माजी ने जब बछड़े को जहर की पिचकारी दिलाई, अथवा खेती को नष्ट करनेवाले बंदरों के प्राण-हरण का उपाय वह सोचने लगे

अथवा उन्होंने जब यह उदाहरण दिया कि अपनी अबोध कन्या को अत्याचारी के वशीभूत होने देने के बदले में उसकी गर्दन धड़ से अलग कर देना पसंद करूंगा, उस समय यह वीर का जीता-जागता अहिंसा-धर्म उनके अंदर काम कर रहा था। उन्होंने सोचा कि रोग-व्याकुल बछड़े को तड़पने देना और दुःख से छुटकारे का उपाय न करना अहिंसा की पंगुता है। इसी प्रकार बंदरों से खेती की रक्षा करने का साधन ढूंढ़ना अहिंसा के सर्व-व्यापक धर्म होने में रुकावट डालना है और सतीत्व भंग होने के बजाय मर जाना श्रेष्ठ है,यह भाव यदि अहिंसा में नही है तो वह पवित्रता और तेजस्विता की सहायक अहिंसा नहीं हो सकती। इसलिए उनको यह सोचना ही पड़ा और हरेक अहिंसा-धर्मी को सोचना पड़ेगा कि जीवन के भिन्न-भिन्न प्रांतों में अहिंसा का व्यवहार व प्रचार किस प्रकार करें। यदि अहिंसा-धर्म कोरी किताबों में रखा रहनेवाला धर्म नहीं है, मुट्ठीभर लोगों के जीवन को उच्च और पवित्र बनानेवाला धर्म नहीं है, बल्कि ३५ करोड़ भारतवासी एवं दुनिया के करोड़ों लोगों के घर में और जीवन में जीवित रहने योग्य है, तो उसकी व्यवहार-शास्त्र और आचार-शास्त्र का रूप धारण किये बिना गति नही। आखिर मनुष्य जीवन में कम-से-कम हिंसा करने के नियम का वशवर्ती होकर ही रह सकता है, क्योकि जबतक सांस चलती रहती है, तबतक उससे सूक्ष्म हिंसा होती ही रहती है। ऐसी दशा में अहिंसा की ओर हमारी गति होते हुए भी हमको कदम-कदम पर कहां किस अंश पर हिंसा क्षम्य हो सकती है और कहां हिंसा के रूप में अहिंसा छिपी रहती है एवं कहां अहिंसा के दिव्य रूप में हिंसा घर किये रहती है, यह जानना परम आवश्यक है। बछड़े का प्राण-हरण पहली बात का और खून निकलने तक गाय-भैंस को दुहना, कसाइयों को गाय-भैंस खरीदनें के लिए बहुत ब्याज पर रुपये देना, महाजनों का आसामियों को रुपये के लोभ से चूसना, विधवाओंको बलपूर्वक रोककर व्यभिचार और भ्रूण-हत्याओं की वृद्धि करना आदि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। हमें यह देखना चाहिए कि वास्तव में मनुष्य या प्राणी किसीको कष्ट न देते हुए गौरव-पूर्वक संसार में किस प्रकार रह सकता है।

उस अहिंसा का कुछ मूल्य नहीं है,जो न सामनेवाले का कष्ट कम करने की प्रवृत्ति रखती हो और न गौरव के साथ जीवित रहने का भाव बढ़ाती हो, ऐसी अहिंसा जिसमें इन दोनों भावों के विकास की पूरी गुंजाइश है, एक जीवित और वीर मनुष्य की सतेज और सक्रिय अहिंसा हो सकती है, न कि एक मुर्दा और कायर मनुष्य की म्लान, दीन और निष्क्रिय अहिंसा।

: ७ :

पाप क्या है ?

हम बहुत बार 'पाप' शब्द का प्रयोग करते हैं, परंतु उसका अर्थ समझे हुए नहीं होते। अतः कई बार साधारण भूल, अपराध भी पाप की श्रेणी में ले लिया जाता है और जहां पाप नहीं है वहां भी पाप मान लिया जाता है। इसलिए ज़रूरी है कि हम पाप का स्वरूप अच्छी तरह समझ लें।

साधारणतः बुरे कर्म पाप कहलाते हैं, विशेषतः अनैतिक कर्मों को पाप कहते हैं। जो कर्म अनजान में, या पाप की भावना मन में न रहते हुए, भूल, भ्रम या सहज-प्रेरणा से हो जाते हैं व जिनका असर सामनेवाले या समाज पर ऊपर-ही-ऊपर होकर रह जाता है, उसे एकाएक पाप नहीं कहना चाहिए। वह कौटुंबिक, सामाजिक या राजनीतिक भूल या अपराध हो सकता है, जैसे चार बजे कार्यालय में पहुंचने का नियम है और पांच बजे पहुंचे तो यह नियम-भंग है, इसे पाप नही माना जा सकता।

पाप के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं—नीति, सदाचार का उल्लंघन होता हो और इस भावना से ही किया गया हो।

नीति-नियम व्यक्ति की उन्नति तथा श्रेय व समाज की व्यवस्था तथा प्रगति की दृष्टि से बनाये गये हैं। वे इतने आम हो गये हैं कि ईश्वरी नियम के तौर पर सब जगह माने जाते हैं। अनीश्वरवादी, अनात्मावादी या नास्तिक समझे जानेवाले लोग भी वैयक्तिक व सामाजिक दृष्टि से उन्हें

अनिवार्य मानते हैं।

वे मुख्यतः ये हैं (१) सत्य व्यवहार करना, (२)बिना कारण किसी-को पीड़ा न पहुंचाना, (३) चोरी व बलात्कार न करना, (४) किसीकी बहू-बेटी को बुरी निगाह से न देखना।

इन चारों में सब प्रकार के पापों का समावेश हो जाता है, बल्कि इन्हें और भी संक्षेप में कहना चाहें तो असत्य व हिंसा—ये ही दो पाप सचमुच पाप हैं, क्योंकि इनका सहारा लिए बिना कोई पाप नही किया जा सकता।

चोरी, बलात्कार, व्यभिचार—सबमें झूठ व हिंसा की सहायता लेनी पड़ती है। व्यभिचार चोरी है, बलात्कार डाका है। अतः पाप से बचने के लिए मनुष्य दो ही व्रत ले ले—झूठ का सहारा नहीं लूगा, दूसरों पर ज्यादती-बलात्कार नही करूंगा।

झूठ का सहारा लेना, दूसरों को धोखा देना है; ज्यादती व बलात्कार करना उसकी स्वतंत्रता में दखल देना है। इस धोखे या ज़्यादती की प्रवृति का खुद हमारे मन पर भी बुरा परिणाम होता है, हमारा भी शांति-सुख मिट जाता है।

इस पाप को धोने का गुण तो ईश्वर-शरणता या भक्ति में है। जब तुम सब कुछ ईश्वर के लिए ही करोगे, सबकुछ उसीको अर्पण करोगे, उसके सिवा तुम्हारे लिए संसार में कोई व कुछ है ही नही, तब तुम्हें झूठ, छल, ज़्यादती, बलात्कार की ज़रूरत ही क्या रह जायगी ?

इस तरह वर्तमान या अगले पापों से बचाव होगया। वर्तमान वृत्ति का असर पिछले पापों पर भी पड़ता है। उनका तीखापन निकल जाता है; वे आग निकली हुई राख की तरह हो जाते ह। उनका ऊपरी रूप तो बना रहता है, पर भीतरी प्राण या बल नष्ट हो जाता है। उनका फल तुम तक आवेगा, परंतु पहले तुम उसके ख़याल मात्र से कांप उठते थे, अब तुम खुशी से उसका स्वागत करने को तैयार हो जाओगे।

पहले तुम निराधार, असहाय थे, अब तुम्हें ईश्वररूपी डांड पकड़ने को मिल गया है,जिसने अगले पापों का भय मिटाकर तुम्हें अधिक निर्भय

कर दिया है। इससे पहले जो तीर की तरह आकर लगता था अब वह फूल की तरह लगकर गिर जायगा।

जिन भक्तों व संतों ने ज़हर का प्याला खुशी-खुशी पी लिया, सूली-फांसी पर चढ़ गये, गरम तेल के कढ़ाव में कूद पड़े, आग में डाल दिये गये, उन्हें जो इनसब यातनाओं को सहने का बल मिला,वैसे ही पापों के फल को सहने का बल मिल जाता है। इसीको कहते हैं पापों का भस्म हो जाना। जो सांप था वह फूलों की माला बन गया।

पाप के भी दो स्वरूप होते हैं। एक कर्त्ता—करनेवाले की भावना, दूसरा उसपर और समाज पर होनेवाला परिणाम।

मनुष्य के मन में सबकुछ करने की भावना होती है तभी वह करता है। यह सच है कि सृष्टि के पदार्थों को देखकर ही उसे उनको पाने या भोगने की अभिलाषा होती है और इसीसे वह उनको पाने या भोगने के कर्म में प्रवृत्त होता है। इन पदार्थों का होना या रहना तो तभी असंभव हो सकता है जब सृष्टि न रहे, न फिर वह पैदा ही होने पावे।

एक तो ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि परमात्मा या प्रकृति का स्वभाव ही सृष्टि को बनाना व अपने में लय कर लेना है। दूसरे, सृष्टि ही न रही तो फिर जीव, मनुष्य व उसकी समस्या ही कहां रहेगी ?

अतः हमें सृष्टि के पदार्थों के अस्तित्व को अनिवार्य या अमिट मानकर ही चलना होगा, उनके उपस्थित रहते हुए भी उनके कारण जो पाप-प्रवृत्ति होती है उसका इलाज ढूढ़ना होगा। अतः सृष्टि व उसके पदार्थों को छोड़कर हमें खुद मनुष्य में ही उसका इलाज ढूढ़ना है। मनुष्य जब उससे प्रेरित होता है, उनके पाने की इच्छा व पाने की भावना करता है, तभी तो किसी कर्म या पाप की प्रवृत्ति होगी !

यदि हमने सब स्त्रियों को मां-बहन-बेटी मान रखा हो तो उनके मौजूद रहते हुए भी कैसे कुभावना मन में आवेगी ? यदि हमने यह समझ लिया है कि दूसरे के धन को हाथ लगाना बुरा है तो फिर क्यों चोरी की प्रेरणा मन में जगेगी ? अतः व्यभिचार, चोरी, धोखा-धड़ी, बलात्कार, मारकाट,

झूठ आदि की प्रेरणा पहले मन में उठती है फिर वैसी क्रिया होती है ।

इस छान-बीन से हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि पाप का मूल मन में है, कर्म में तो वह सिर्फ प्रकट होता है । समाज कर्म का ही हिसाब अधिक लगाता है, क्योंकि भावना को तो वह जान नहीं पाता। कर्म के द्वारा ही वह उसतक पहुंच सकता है।

कर्म या आचरण के संबंध में तो समाज व राज्य आदि ने बहुतेरे विधि-निषेध बना रखे हैं । उसके व्यौरे में पड़ना अप्रासंगिक है, परंतु भावना या मानसिक विकार के संबंध में अवश्य अधिक जान लेना चाहिए, क्योंकि जड़ को ही संभालना अच्छा है, जिससे पेड़ ही न बनने पावे ।

फिर भावना का साक्षी स्वयं कर्ता ही ज्यादा हो सकता है । समाज तो अनेक कर्मों के नाते को देखकर भावना या नीयत के बारे में सही या ग़लत अनुमान लगा सकता है । अत: व्यक्ति को खुद अपनी नीयत, इरादे के बारे में सतर्क, सावधान व जागृत रहना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि घर में छिपे चोर या आस्तीन के सांप की तरह यह पहले खुद अपनेको व पीछे समाज को भी परेशान व त्रस्त करके छोड़ता है ।

पाप की कल्पना मनुष्य को उसकी संस्कृति के अनुसार होती है । सभ्यता या संस्कृति की जिस तह पर वह होगा, वैसा ही उसके पाप का चित्र होगा ।

कई जंगली जातियां ऐसी होती है, जो प्रत्यक्ष मैथुन को ही व्यभिचार मानती है और कई लोग ऐसे है कि मर्यादित व्यभिचार को भी दोष नहीं मानते । वे संस्कृति की नीची सतह के लोग हुए । इनसे ऊपर की सतह के वे लोग हैं जो दूषित दृष्टि को भी अच्छा नही समझते । इनसे भी ऊंचे दर्जे के लोग वे है,जो मन में व्यभिचार की कल्पना आना भी पतन समझते हैं ।

सही दर्जा व स्थिति इन पिछले लोगों की ही है । यही आगे की स्पष्ट व्यभिचार-क्रियाओं से बच सकते हैं । ऐसी ही बात दूसरे पापों के संबंध में भी समझनी चाहिए । नीचे की तहवालों को चाहिए कि वे क्रमश: ऊपर की सतह पर आने का प्रयत्न करें । ज्यों-ज्यों ऐसा होगा त्यों-त्यों समाज में

अधिक व्यवस्था व उन्नति दीख पड़ेगी, मनुष्य व समाज के सारे प्रयत्न इसी दिशा में, इसी उद्देश्य की पूर्ति में, होने चाहिए।

कर्म का नियंत्रण जो समाज व राज्य ने किया है, वह इसलिए आवश्यक है कि भावना के दूषित होते हुए भी यदि मनुष्य लोक-लाज या दण्ड-भय से बच गया, तो कम-से-कम समाज की हानि तो न होने पाई, व्यक्ति की ही हानि होकर रह गई।

उस अशुभ कर्म के लिए विचार करने में, जोड़-तोड़ भिड़ाने में, फिर कर्म न हो सकने की हालत में निराशा पल्ले पड़ने के रूप में उसकी काफी मानसिक व सामाजिक हानि होती है, विकार-विवश हो जाने से उसका हिसाब मनुष्य सहसा नहीं लगा पाता।

कोरे कर्म या कर्म के स्वरूप पर ही दृष्टि रखने व उसी रूप में सदैव भावना का हिसाब लगाने से अन्याय भी हो जाता है। अन्याय भी एक पाप ही है। पीड़ा पहुंचाने की अर्थात् हिंसा की कोटि में आ जाता है।

किसीने किसीसे दूषित भाव से बात की, देखा व स्पर्श किया, या सद्भाव व सहजभाव से--इसका अंदाज़ लगाना कठिन होता है। अत: इसमें दोनों प्रकार की भूलें हो सकती हैं। कर्म वास्तव में दूषित भाव से हो तो उदारता-वश सद्भाव मान लिया जा सकता है। कभी सद्भाव होने पर भी अनुदारता-वश दूषित भाव ग्रहण कर लिया जा सकता है।

ऐसे अवसरों पर मनुष्य का पूर्व-चरित्र, स्वभाव, वृत्ति आदि को देखकर नतीजा निकालना चाहिए। इसकी कोई अचूक कसौटी या निशानी नही बताई या बनाई जा सकती, क्योंकि मनुष्य का मन व मस्तिष्क एक ऐसी अद्भुत रचना है कि परमात्मा के सिवा बहुत बार खुद कर्ता भी उसकी प्रवृत्तियों का सही अंदाज़ नहीं कर सकता।

इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि पाप का मूल भावना में है,कर्म या आचार से तो उसका परिचय या प्रभाव मात्र मालूम होता है। जो आचार पर ध्यान रखता है व भावना को भुला या खो देता है वह पाखण्डी हो

हो जाता है; जो भावना को पकड़ रखकर आचार के प्रति उदासीन रहता है वह लोक-संग्रह नहीं कर पाता। अतः सुवर्ण नियम यह है कि भावना को पाप से बचाया जाय तथा कर्म या आचार भी उसीके अनुकूल अर्थात् संयम-प्रधान हों।

३. साधना

१. सिद्ध-योग
२. शोक ग्रौर सेवा
३. भय का भूत
४. उपहास !
५. ग्रनुत्साह का मूल
६. सत्याग्रह का मर्म
७. भावी स्वप्न
८. ग्रात्म-निरीक्षण की ग्रावश्यकता
९. सेवा का व्यसन

: १ :

सिद्ध-योग

संग्राम में विजय पाना सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलंबित रहता है। उसी प्रकार देशोद्धार का कार्य देश-सेवकों के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्रायः असंभव है। हमारे आंदोलनों के बार-बार छिन्न-भिन्न हो जाने का एक मुख्य कारण यह था कि हम देश-सेवक कहलानेवाले सब तरह सुयोग्य न थे। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा सुंदर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नहीं पा सकता। ये भी देश-सेवा के साधन हैं; पर ये लोगों के दिलों को तैयार करने भर में सहायक हो सकते हैं, संगठन और सैन्य अथवा राष्ट्र-संचालन में नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान लें कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमें किन-किन गुणों के प्राप्त करने की, किन-किन नियमों के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को बनावें।

(१) देश-सेवक में पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नहीं है, तो और अनेक गुणों के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य में सफल नहीं हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपंच के लिए देश या समाज या धर्मसेवा में जगह नहीं।

(२) दूसरे की बुराइयों को वह पीछे देखे, पर अपनी बुराइयां और त्रुटियां उसे पहले देखनी चाहिए। इससे वह खुद ऊंचा उठेगा और दूसरों का भी स्नेह-संपादन करता हुआ उन्हें ऊंचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावतः नम्र होता है, और जो कर्त्तव्य-भाव से सेवा करता है, उसे अभिमान छू नहीं सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और

बड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में ज़हरीले कांटे हैं। इनसे उन्हें सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए। सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आपदाओं से अपने-आप बचा लेते हैं।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-व्यय संयम और विचार-शीलता का चिह्न है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिह्वा नहीं, हृदय होना चाहिए। जिह्वा की मधुरता कपट का चिह्न है; हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वयं व्यक्ति को गिराता है, अधीरता उसके काम को धक्का पहुंचाती है।

(६) दुःख में सदा आगे और सुख में पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियों को दो और अपयश का ज़िम्मेदार अपनेको समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियों को हमेशा आगे बढ़ने का अवसर देना, उन्हें उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेष-हीनता की कसौटी होती है। अपने ज़िम्मे की संस्था या धन-संपत्ति को या पद को एक मिनट के नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियों को सौंप देने की तैयारी रखना निःस्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च में अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरों पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नहीं। सेवक के जीवन में कोई काम शोभा, शृंगार के लिए नहीं होता, केवल आवश्यकता के लिए होता है। ख़र्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो।

(९) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाब रखना और देना चाहिए। अपने कार्य की डायरी रखनी चाहिए।

(१०) घरू काम से अधिक चिंता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए। एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए। खर्च-वर्च में अपने और साथियों के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए। सार्वजनिक सेवा सुख चाहनेवालों के नसीब में नहीं हुआ करती, इसके गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते है जो कष्टों और असुविधाओं को झेलने में आनंद मानते हों, विघ्नों और कठि-नाइयों का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत् करते हों। वह तो साधना और तप के बल पर फूलती-फलती है। सेवक ने जहां सुख की इच्छा की नहीं कि उसका पतन हुआ नहीं। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नही जीता है— कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(११) व्यवहार-कुशल बनने की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बननेवाले को व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपनेको साधुता के चरणों पर चढ़ा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है, बह साधुता के पास आकर उसका सहायक बन जाता है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज़ के दो रूप है। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहें तो कह सकते हैं कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अंदर करो, साधु की-सी दिनचर्या रखो। अन्न पर नहीं, भावों पर जिओ। स्वीकृत कार्म के लिए तपो। विघ्नों, विपत्तियों, कठिनाइयों, मोहों और स्वार्थो से लड़ने में जो तप होता है वह पंचाग्नि से बढ़कर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूं कि यदि तुम्हें सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल संसार के लिए देखना चाहते हो, और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नहीं जो साधु के लिए असंभव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र

बनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियां सहना तप है। इन दो बातों का संयोग होने पर दुनिया में कौन-सी बात असंभव हो सकती है?

: २ :

शौक और सेवा

शौक और सेवा में ज़मीन आसमान का अंतर है। शौक का संबंध व्यक्ति की अपनी रुचि से है और सेवा का संबंध समाज और देश की आवश्यकता से है। मनुष्य की रुचि नदी-प्रवाह के नीचे बहनेवाली रेती की तरह बदलती रहती है। इसलिए शौक का भी रूपांतर होता रहता है। आज एक बात करने की उमंग होती है, कल दूसरी बात करने की। उसके मूल में रुचि के सिवा कोई तत्व नही होता। समाज या देश की आवश्यकता निश्चित होती है। जबतक उसकी पूर्ति नही हो जाती, तबतक हमें उस बात में समाज या देश की सेवा करनी लाजमी है। शौक का अंत अपनी ही रुचि की पूर्त्ति और उससे होने वाले क्षणिक संतोष में या असफलता की अवस्था में, चित्त-क्षोभ और दुःख में होता है। पर-सेवा का अंत सर्वदा सुख-संतोषदायी होता है। दूसरों को तो उससे सुख मिलता ही है,हमें भी आत्म-संतोष होता है। सेवा निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म करने वाला शौक-हर्ष के द्वंद्व से परे है। शौक व्यक्तिगत भावना है, सेवा समाजगत। शौक से जो सेवा की जाती है वह शौक पूरा होते ही बंद हो जाती है। सेवा के भाव से जो सेवा की जाती है वह जबतक आवश्यकता बाकी है तबतक जारी रहती है। शौक अपने लिए है, सेवा समाज के लिए।

हर समाज और देश में दो तरह के देश-भक्त हुआ करते हैं। एक को हम शौकीन देश-भक्त और दूसरे को सेवक देश-भक्त कह सकते हैं। शौकीन देश-भक्त अक्सर यह उज्र किया करते है—"साहब, यह काम हमसे न हो

सकेगा। इसमें तो ये-ये झंझटें हैं। यह हमारी लगन के खिलाफ हैं।" सेवक देश-भक्त तो जिस समय देश की जो आवश्यकता होती है उसको पूरा करने में अपना तन, मन, धन लगा देता है। वह विचार करता है––मैं अपनी रुचि को देखूं या देश की आवश्यकता को? देश की जरूरत ही उसकी रुचि होती है। शौकीन देश-भक्त जनता के सामने बुद्धि-भेद का उदाहरण पेश करता है, सेवक देश-भक्त अपनी एकनिष्ठ सेवा के द्वारा एकता के भाव हृदय में अंकित करता है।

किसी भी आंदोलन की प्रतिष्ठा और विजय, प्रत्येक कार्य की तरह, सेवक देश-भक्तों पर अवलंबित है। इनकी संख्या जितनी अधिक होगी उतनी शीघ्र विजय-प्राप्ति संभवनीय है। देश के सामने इस समय जो कार्य है वह देश की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना देश इष्ट-मार्ग पर एक इंच भी आगे नही बढ़ सकता। कौन कह सकता है, देश को अब सेवकों की आवश्यकता नही है, या नवसमाज-निर्माण के लिए रुपयों की जरूरत देश को नहीं है? खादी तो हमारी योजना का प्राण ही है। शांति उसकी आत्मा और एकता जीवन-शक्ति है। इनकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी यदि हम अपनी रुचि को जीतकर इनकी पूर्त्ति के उद्योग में अपना सर्वस्व नहीं लगा सकते तो फिर हममें और शौकीन देश-भक्त में क्या अंतर रह गया? शौकीन देश-भक्तों से किराये के देश-भक्त अच्छे! पुरस्कार या कीर्ति आदि के खयाल से तो वे कम-से-कम देश की आज्ञाओं का पालन करते हैं। शौकीन देश-भक्त तो खुद अपने ही बनाये नियमों और प्रस्तावों के अनुसार चलने से इन्कार कर देता है। शौकीन देश-भक्तों की नीति बिना पेंदी के लोटे की तरह होती है। शौकीन देश-भक्त यदि धनी हुआ तो आज देश के लिए कुछ धन दे देगा, कल इन्कार कर देगा। यदि स्वयं-सेवक हुआ तो जबतक दिल लगा, सेवा की, जब जी उचट गया तो बिल्ला-पट्टा सौंप अलहदा हुआ। यदि कार्यकर्त्ता है तो जबतक सनसनीभरी बातें थीं, जय-जयकार या व्याख्यानों की झड़ी थी, इशारे से काम बनता था, काम करते रहे; जब तन तोड़ काम करने का अवसर आया, बहाव धीमा कर दिया गया, कौशल,

परिश्रम, धीरज, तितिक्षा की परीक्षा का समय आया, किनारा-कशी कर गये, तरह-तरह के उज्र और बहाने पेश करने लगे। पर जो सेवक देश-भक्त हैं वे उसी तरह शांत, गंभीर नदी-प्रवाह की तरह आज भी काम कर रहे हैं। न असफलता की आशंका उन्हें सताती है, न कार्यक्रम की अव्यावहारिकता उनके रास्ते में बाधा-रूप है, न नेताओं की कमी उनके लिए अनुत्साह का कारण है और न विजय के हर्ष से वे उन्मत्त ही हैं। वे अपने निश्चय, संयम, धैर्य और सहनशीलता के बल पर सिद्धि की किरणें आगे आती हुई देखते हैं और बादलों की छाया को देखकर डगमगाते नहीं। वे जानते हैं कि युद्ध के समय सेना को केवल शत्रु की सेना पर हमला ही नहीं करना पड़ता, केवल (अगर शस्त्र-युद्ध हो तो) तोपों, गोलियों और संगीनों की मार नहीं खानी पड़ती, बल्कि घायलों की सेवा, मृतकों का अग्नि-संस्कार भी करना पड़ता है। मौका पड़ने पर खाइयां खोदनी पड़ती हैं। कवायद करनी और सीखनी पड़ती है और बिना चू-चपड़ किये सेनापति की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। केवल इसी शर्त पर विजय की आशा हो सकती है। हरेक सैनिक के लिए वहां जगह नहीं रहती। युद्ध-क्षेत्र न तो चर्चा-समिति है और न फूलों की सेज है। वह तो कार्य-क्षेत्र है, आत्मोत्सर्ग का क्षेत्र है। उस क्षेत्र में विचार और विधान का कार्य, सेनापतियों के सुपुर्द रहता और सैनिक—सच्चे सैनिक तो हाथ का काम खतम करके नया हुक्म पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वह सेनापति या नेता उत्तम होता है, जो विचार के अवसर पर सबकी सुनता है, सबको अपने विचार प्रदर्शित करने का अवसर देता है और काम के वक्त किसीका हीला-हवाला नहीं सुनता।

हमारे स्वतंत्र हो जाने से हमारे संग्राम का अंत नहीं समझना चाहिए। दरिद्रता, भुखमरी, बेकारी आदि के साथ हमारा संग्राम जारी है। जबतक इस संग्राम के सैनिक शौकीन नहीं, पर सच्चे सेवक देश-भक्त नहीं होते, तबतक इस भूतल पर स्वर्ग को लाना आसान नहीं है। याद रखना चाहिए कि सौ शौकीन देश-भक्तों की अपेक्षा एक सच्चा सेवक देश-भक्त कहीं अधिक उपयोगी होता है।

: ३ :

भय का भूत

मनुष्य निर्भय है; पर शेर की तरह हिंस्र या क्रूर नही। मनुष्य अहिंसक है, पर खरगोश की तरह सिर उठाते ही चौकड़ी नहीं भरता। निर्भयता और अहिंसा दोनों उसके जन्मसिद्ध गुण है। जो निर्भय नहीं,वह अहिंसा-परायण नहीं हो सकता। निर्भयता अहिंसा की पहली शर्त है, पहली सीढ़ी है। भारत को दबी बिल्ली की अहिंसा की ज़रूरत नही, वह गजेंद्र की अहिंसा चाहता है। भारत अपने बच्चे-बच्चे को पुरुष-सिंह देखना चाहता है। पुरुष-सिंह निर्भय होते हैं, शूर होते है, हिंस्र, क्रूर और भयानक नहीं। हिंसा, क्रूरता, भयानकता तो पशु का धर्म है। मनुष्य को देखते ही भय नही, प्रेम, अभय और शांति का अनुभव होना चाहिए।

पर आज मनुष्य-समाज अभी मनुष्य नाम को सार्थक कहां कर पाया है? अभी तो मनुष्य नर-पशु ही बना हुआ है। हां, मनुष्यता के विकास की दृष्टि से--मनुष्य के मानसिक और आत्मिक गुणों के उत्कर्ष की दृष्टि से और देशों की बनिस्बत भारत अधिक अभिमान रखने का अधिकारी है। पर आज उसके कुछ अंगों की विकृत अवस्था देखकर हृदय सहम उठता है। यद्यपि वह गुलामी से छूट गया है, फिर भी आज वह इतना भयभीत दीखता है कि कभी-कभी संदेह होने लगता है कि भारत ज़िंदा है या मर गया--भारत शूर-वीरों का भारत है या कायरो का ! उसके कुछ अंगों में भय का इतना संचार दिखाई देता है कि इस बात पर शक होने लगता है--क्या 'अहम् ब्रह्मास्मि', और 'सोऽहम्' के तत्व का आविष्कार करनेवाले महापुरुष इसी भूमि में पैदा हुए थे ? मनुष्य को भय केवल पाप का हो सकता है, ईश्वर का हो सकता है। पर हमारे पीछे तो भय के सैकड़ों भूत लगे हुए हे। शत्रु का भय, चोर-भय, लोक-लाज का भय, गुरुजनों का भय, पुलिस का भय, शस्त्र का भय, परिवार का भय, पेट का भय, दग़ा का भय, स्वार्थ का भय—हानि का भय, मृत्यु का भय, रोगों का मय,—मतलब यह कि तरह-तरह के भयों

ने हमारी आत्मा को इतना कमज़ोर कर दिया है कि हम जीते हुए भी मुर्दे की तरह हो रहे हैं।

मनुष्य और भय दोनों परस्पर-विरोधी शब्द हैं। जो नर-नारायण का अंश है——नहीं, स्वयं नारायण ही है——उसके समीप भय कैसे रह सकता है? भय का अस्तित्व तो अज्ञान में है। अरे अज्ञानी, अपने स्वरूप को पहचान। देख——सूरज को देख, यह तेरे ही प्रकाश से चमक रहा है। आग की आंच तेरे ही चैतन्य का प्रतिबिंब है। चंद्र तेरी ही शांति का प्रतिनिधि है। अरे, तू प्रकृति का, चराचर का, राजा है राजा, गुलाम नहीं। दुनिया के बड़े-बड़े बादशाह तेरे हाथ के खिलौने हैं। राम बादशाह की भाषा में तेरी शतरंज के मोहरे ह। जिन शक्तियों से आज तू डरता है, जिन्हें तू भयंकर और भीषण समझता है, वे तेरी हुंकार के साथ लोप हो जायंगे। तू अपनेको पहचान तो! तू देखेगा सारे संसार में तू ही तू है। सब तेरा है——सबका तू है। करामात, उसकी शक्तियों के अद्भुत चमत्कार को देखना चाहता है? तो निर्भयता सीख। भय भूत की तरह है। भूत को जहां माना नही कि वह पीछे लगा नही। भय मनुष्य-जाति का अपमान है। भय खाना और भय दिखाना दानों मनुष्य-धर्म के विपरीत हैं। दोनों कायरता के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जो दूसरों पर भय का प्रयोग करता है,उन्हें डराता है, वह खुद निर्भय नहीं हो सकता। उसकी आत्मा कभी नहीं उठ सकती। भय दिखाना पशुता है, भय खाना पशु से भी नीचे गिरना है।

पर आश्चर्य तो यह है कि जिसका भय हमें रखना चाहिए उसका भय तो हम रखते नहीं। जिसका भय हमारे पतन का, नाश का बीज है, उसे हमने अपना मित्र बना लिया है। मनुष्य-समाज में पाप का और ईश्वर का भय आज कितना है? दूसरे सैकड़ों भयों ने पाप और ईश्वर के भय को भगा दिया है और वहां अपना अड्डा जमा लिया है। मनुष्य, चेत! तुझे आज चोरी करने का भय नही, भोले-भाले को ठगने का, लूटने का डर नहीं, शराब बेचने और पीने का भय नहीं, अपनी बहनों के सतीत्व भंग करने का डर नहीं, ग़रीबों को सताने का भय नहीं, झूठ बोलने, प्रतिज्ञा तोड़ने, धोखा

देने और बेईमानी करने का डर नहीं, अपने मतलब के लिए उनपर अत्याचार करने का डर नहीं, अरे, क्या तुझे अपनी आत्मा के कल्याण का खयाल नहीं ? क्या तेरे सचमुच आंखें नहीं ? पर तू डरता है मिट्टी के पुतले से, लोहे के टुकड़े से, पत्थर की कंकड़ियों से, कमजोर और पापी आत्माओं से ? अरे, इनमें दम क्या है ? तू फूंक मार, फूंक ? ये भूसी की तरह उड़ जायंगे ! पर तू पहले अपने अज्ञान को छोड़। मनुष्यत्व को जान, उसका अभिमान रख। भय को घर में से निकाल दे। इससे तू अहिंसा के मर्म को समझेगा। तेरे हृदय में निर्मल और दिव्य प्रेम का प्रकाश होगा। संसार तुझे अपना मित्र मानेगा। अपनी पाशवी शक्तियों को तुझपर न्यौछावर कर देगा।

तू रामराज्य चाहता है ? इससे बढ़कर राज्य, प्रभु का ऐश्वर्य तुझे और क्या चाहिए ? वह तो तेरी लीला का भ्रू-संकेत मात्र है। भारत की कौन कहे, तू सारे संसार को रामराज्य की राह दिखावेगा। जिन्हें तू शत्रु मानता है, वे तेरे शत्रु नहीं हैं। शत्रु तो तेरे हृदय का वह भय है, जिसने तुझे कायर और निर्वीर्य बना रखा है, जो तेरी आत्मा को पनपने नहीं देता। तू भय का खयाल छोड़ दे, संसार में तुझे कहीं भय न दिखाई देगा। तू शरीर और जीवन का मोह छोड़ दे, भय तेरे पास आने की हिम्मत नहीं कर सकता। तू धन पर से प्रेम हटाले, भय स्वयं तुझसे भय खाने लगेगा। तू स्वार्थ को छोड़, यही तो भय का घर है। अपने हृदय की मलिनता को दूर कर, भय तेरे लिए कामधेनु हो जायगा। निर्भय ही संसार में जीवित रह सकते हैं। निर्भय का ही संसार आदर करता है। निर्भय ही जग में मनुष्य हैं। भीरु को दुनिया में जीने का हक़ नहीं, वह जी भी नहीं सकता। उसकी संसार को जरूरत नहीं। वह भार-भूत है। इसलिए निर्भय हो, निर्भय हो।

: ४ :

उपहास !

उपहास मानसिक दुर्बलता का फल यह है। मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को गिराने में तभी उपहास का आश्रय लेता है जब उसके पास दलीलों का दिवाला निकल जाता है । क्षुद्रबुद्धि समाज में चाहे उपहास की कदर होती हो, पर प्रौढ़ समाज में उपहासकर्ता की प्रतिष्ठा नही हो सकती । किसी व्यक्ति, सिद्धांत या संस्था का उपहास करके हम अपने अज्ञान-मूलक थोथे गर्व का परिचय देते हैं और विचारशील लोगो की दृष्टि में उपेक्षा-योग्य बन जाते हैं । कुत्सित कटाक्ष जिस प्रकार प्रतिपक्षी को परास्त करने के बजाय दुराग्रही बनाने में सहायक होते हैं उसी प्रकार उपहास नये-नये शत्रु पैदा करता है, और पुराने शत्रुओं को और पक्का कर देता है । परंतु हम देखते ह कि देश में कुटिल और नीच उपायों से प्रतिपक्षियों को गिराने की चाल-सी पड़ गई है । सदियों के गुलाम देश में जो-जो बुराइया न आ जायं वही गनीमत है । देव-दुर्लभ इस भारतभूमि का बड़ा दुर्भाग्य है कि उसकी कुछ संतान घृणित साधनों का अवलंबन करके उसका उद्धार करने की निष्फल चिंता में मग्न हैं । कितने ही छोटे और कुछ बड़े लोग भी कुटिल आक्षेपों और कटु उपहास के मोह से अपनेको बचा नहीं पाते । नाम-निर्देश करके हम परस्पर अप्रियता की मात्रा को बढ़ाना नही चाहते। हम तो उन लोगों में हैं जो बढ़ते हुए मनमुटाव को कम करने में अपनी शक्ति खर्च करते हैं । विकारों के आवेश में अथवा पक्ष-द्वेष के फेर में पड़कर अपनी ओर से हम कोई कारण कडुवापन बढ़ाने के हक में पैदा होने देना नहीं चाहते । कल तक जो लोग एक झंडे के नीचे कंधे-से-कंधा भिड़ाकर त्याग और कष्ट-सहन करते हुए अपने शत्रुओं से लड़ते थे, आज वे आपस में एक-दूसरे को अपना शत्रु समझकर जहर उगलें और विद्वेष की आग बरसावें, यह कितने दुर्दैव, कितने परिताप और कितनी लज्जा की बात है !

महात्माजी के निधन के बाद भी हम अक्सर चार बातों का उपहास

होता हुआ पाते हैं——सत्य, धर्म, प्रेम और अहिंसा। आध्यात्मिक और आत्म-शुद्धि शब्दों का अक्सर मज़ाक उड़ाया जाता है; पर इन दोनों के अर्थ का समावेश पूर्वोक्त चारों शब्दों के अर्थ में अच्छी तरह हो जाता है। हां, यह सच है कि इन सनातन बातों को पसंद करनेवालों की अपेक्षा उपहास करनेवालों की संख्या बहुत छोटी है तथापि जिस अज्ञान या कम-जोरी के कारण वे लोग ऐसा करते हैं उसको दूर करने का मौका देना हम उनके प्रति अपना कर्तव्य मानते हैं।

पहले सत्य को लीजिये। हम पूछते हैं कि झूठ बोलना भी कोई देश-भक्ति है? छल-कपट करके कोई देश-सेवा कर सकता है? बुराई करके, बुरे रास्ते चलकर कोई देश का उपकार कर सकता है? मनुष्य झूठ क्यों बोलता है? डर से——प्राण-हानि या स्वार्थ-हानि के डर से। मनुष्य छल-कपट का आश्रय क्यों लेता है? डर——सीधे रास्ते पर चलने से होनेवाले कष्ट के डर से। भला बताइये, ऐसा डरपोक प्राणी क्या देश-सेवा करेगा? वह तो इस सभ्य और छिपी भीरुता तथा कायरता का प्रचार देश में करके उसे उलटा कापुरुष और बोदा बनावेगा। सत्य से बल मिलता है, सत्य में वीरता है, सत्य के पास हँसते हुए बलिदान कराने की ताकत है। जिसके पास सत्य है वह सर्वदा सर्वतन्त्र-स्वतंत्र है। जो सत्यपालन और देश-भक्ति में विरोध देखते हैं वे देश-घात को भ्रम से देश-भक्ति मान रहे हैं।

दूसरा शब्द है धर्म। जिन नियमों का पालन करके मनुष्य आज़ाद होकर अपनी सर्वांगीण उन्नति कर लेता है, उनके समुदाय को 'धर्म' कहते हैं। धर्म स्वतंत्रता की सड़क है, आत्म-विकास की कुंजी है। धर्म का अर्थ न समझकर, उसके मर्म को जानने का प्रयत्न न करके, कुसंस्कारों के द्वारा गृहीत गलत संदर्भों के शिकार होकर हमें उसी डाल को न काट डालना चाहिए, जिसपर हम बैठे हुए हैं। सच यह है कि आज धर्म की जगह, धर्म के नाम पर मूर्तिमान् अधर्म का आचरण होता हुआ दिखाई देता है। पर दोष धर्म का नहीं धर्म-तत्वों का नही, हमारा है, आचरण

करनेवालों का है। धर्म के आचरण को सुधारना एक बात है और धर्म की जड़ काट डालना दूसरी बात। व्यक्ति की सार्वजनिक उन्नति के लिए, समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए, धर्म वही काम देता है जो रीढ़ की हड्डी शरीर के संगठन के लिए देती है। धर्म के आधार पर देश की उन्नति, देश की स्वतंत्रता, अवलंबित है। भारत के पैंतीस करोड़ पुत्र पहले धर्म को पहचानते हैं, फिर देश को। धर्म की अवहेलना और देश-भक्ति दोनों बातें एक साथ नहीं रह सकतीं। धर्म देश का रक्षक है और देश धर्म के लिए जीवित रहता है। धर्म-शास्त्र का अर्थ है आत्माराधन; राजनीति में धर्म का अर्थ है देश-भक्ति, सुशासन। समाज-शास्त्र में धर्म का अर्थ है सदाचार और जन-सेवा। संग्राम-शास्त्र में धर्म का अर्थ है पुरुषार्थ ओर आत्मोत्सर्ग। व्यापार-शास्त्र में धर्म का अर्थ है सच्चाई और दान। शिक्षा-शास्त्र में धर्म का अर्थ है एकनिष्ठा और सद्भाव। इस प्रकार धर्म ही किसी अंश में प्रधान-रूप से और किन्ही अंशों में गौण रूप से जीवन के प्रत्येक अंग का रास्ता और संचालक है।

अब तीसरे शब्द प्रेम का विचार करें। हम पूछते हैं, यदि प्रेम के बल पर हमें सफलता मिल सकती हो तो क्या बुरा है? यदि सबके साथ प्रेम रखते हुए, केवल प्रेम का प्रयोग करते हुए हम आगे बढ़ सकें तो क्या यह अवांछनीय है? द्वेष की तरह प्रेम भी देने से बढ़ता है। द्वेष के बदले में द्वेष और प्रेम के बदले में प्रेम मिलना प्रकृति का सिद्ध नियम है। हां, यह सच है कि ज़ालिम के प्रति मन में एकाएक प्रेम-भाव होना कठिन है; पर महात्माजी ने यह कब कहा है कि किसी व्यवस्था या पद्धति के साथ प्रेम करो? उन्होंने तो बार-बार कहा है कि गलत व्यवस्थाओं के प्रति अप्रीति फैलाना हमारा धर्म है। प्रेम का प्रयोग वे व्यक्तियों पर करना चाहते हैं, न कि प्रणालियों पर। अतएव हमें प्रणाली और व्यक्ति अथवा मनुष्य और उसके कार्य में स्वाभाविक भेद होता है, उसे भुलाकर प्रेम-धर्म की निंदा का पाप न कमाना चाहिए। प्रेम ईश्वर के ऐश्वर्य का दूसरा रूप है, प्रेम प्रकृति का धर्म है, द्वेष प्रकृति का मैल है। प्रेम बल है, द्वेष कमज़ोरी। प्रेम की आंच में

लोहे से भी कड़ा दिल गल जाता है और द्वेष के फुत्कारों से हमदर्द दिल भी झुलसकर बद हो जाता है। जो मनुष्य शत्रु पर भी प्रेम कर सकता है उसके चरणों पर त्रिभुवन का सारा ऐश्वर्य आ गिरता है। जो लोग शत्रु पर प्रेम-प्रयोग करना असंभव और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत मानते हैं वे प्रकृति के नियमों का और ईश्वर के आदेशों का निरादर करते हैं। राजनीति का यदि मनुष्य के साथ कुछ संबंध है तो वहां प्रेम की प्रतिष्ठा हुए बिना नहीं रह सकती। राजर्नीति में प्रेम को धता बताना राजनीति के पतिव्रत को भंग करना है। राजनीति को वेश्या बताकर उससे संबंध रखना और उसमें अपना गौरव मानना उतना ही प्रतिष्ठास्पद है जितना कि भद्र-जनों का कुलटाओं से संबंध रखना।

अब रही अहिंसा की बात। सिद्धांत की बात जाने दीजिये। जो लोग भारत की मौजूदा हालत में शस्त्र बिना देश-रक्षा करना संभव नहीं मानते हैं, उन्हें हमारी सलाह है कि वे यह काम सरकार पर छोड़ दें और सरकार की उसमें सहायता करें। शस्त्रबल का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से कहीं भी न किया जाय——यह अधिकार केवल सरकार का ही रहे।

जबान से 'अहिंसा' की प्रशंसा करते हुए उसके खिलाफ़ आचरण करना देश को गहरी हानि पहुंचाना है। हम उन भाइयों से नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हैं कि वे 'हिंसा' व हथियार की बात छोड़कर ईमानदारी के साथ अहिंसात्मक प्रयोग में साथ दें, खासकर ऐसी अवस्था में जब अहिंसा के आचार्य की आवाज हमीं लोगों के पापों के कारण अब बंद है, उसका उपहास करना वीरोचित नहीं। स्वराज्य और स्वतंत्रता की जिस व्याकुलता ने देश को अहिंसाव्रती बनाया था, उसकी अब और भी ज्यादा जरूरत है। आत्म-रक्षा की दुहाई देकर 'अहिंसा' का तिरस्कार करना, निंदा करना, आते हुए उज्ज्वल भविष्य की खोपड़ी पर डंडों का प्रहार करके उसे वापस खदेड़ना है।

: ५ :

अनुत्साह का मूल

उत्साह जीवन का धर्म है, अनुत्साह मृत्यु का प्रतीक है। उत्साहवान् मनुष्य आशावादी होता है। उसे सारा विश्व आगे बढ़ता दिखाई देता है। विजय, सफलता और कल्याण सदैव आंख में नाचा करते हैं। उत्साहहीन हृदय और जीवन को देखने के लिए हमारी आंखों में उनके सुप्त बीजों की आवश्यकता है। कुछ लोग आज इस बात की शिकायत करते हैं कि कांग्रेस सरकार बनने के बाद अब जनता में अनुत्साह फैल गया है, उसका जोश ठंडा पड़ गया है, वर्तमान कार्य-क्रम से जनता असंतुष्ट है, उसमें कुछ परिवर्तन किये बिना, कुछ तेज़ दवा पिलाये बिना जनता का जोश कायम नही रहेगा। और यदि एक तरफ यही सुस्ती की हालत रही एवं दूसरी ओर सरकार कोई संतोषजनक मार्ग न निकाल सकी तो हम दोनों ओर से घाटे में रहेंगे। पर हम पूछते हैं कि ये भाव, ये विचार आपके हृदय में है या जनता के हृदय के हैं ? जनता का हृदय तो अनेक सुप्त भावनाओं का सागर है। उसके जिस भाव को जाग्रत करें वही हमें जाग्रत दिखाई देगा। उसके हृदय में रामराज्य छिपा हुआ है, सोया हुआ है। हम कार्यकर्त्ताओं का यह काम है कि उसको जगाकर उसकी प्रतीति जनता को करा दें। जनता का हृदय एक स्वच्छ आईना है। उसमें हम अपने हृदय के भावों को देख सकते हैं। जब हमारे हृदय में उत्साह होता है, आनंद होता है, आशा होती है तब जनता भी हमें उत्साह-आनंद-आशामयी दिखाई देती है। जब हम ही दुर्मुख होकर उसकी ओर देखते है तो वहां से भी हमें वही उत्तर मिलता है। कभी-कभी संदेह होने लगता है और वह ठीक भी है। जिस अनुत्साह और शिथिलता की पुकार मच रही है वह वास्तव में जनता के हृदय की चीज़ है या खुद कार्यकर्त्ताओं के दिल की ? हम आत्म-वंचना तो नही कर रहे हैं ? अपने दिल के अनुत्साह का आरोप जनता पर तो नहीं कर रहे है ? अपनी ही कमज़ोरियों और कुसंस्कारों की बदौलत तो हम वर्तमान स्थिति को अनु-

त्साह-वर्द्धक नहीं पाते हैं ? क्या सचमुच हमारे कार्यकर्त्ताओं के हृदय में पिछले जैसा कार्योत्साह है ? क्या हमने जनता में काम करके देख लिया है--हर तरह से जनता को समझा-बुझाकर हार गये है और इस तरह निराश होकर ही हम सुस्त पड़ गये है ? क्या हमने क़स्बे और गांव-गांव जाकर सभाएं की हैं ? उनमें जनता का मत लिया है ? क्या जनता ने मौजूदा सरकार-व्यवस्था पर अपना अविश्वास प्रकट किया है ? क्या उसने इंकार किया है कि इस कार्यक्रम से हमारे अंदर निर्भयता, साहस और आज़ादी की भावना जाग्रत नहीं हुई है ? हम प्रजा-सत्ता के नाम पर अपनी ही सत्ता का प्रयोग तो नही कर रहे है ? प्रजा-सत्ता के स्थान पर अपनी ही सत्ता तो चलाना नही चाहते है ? अपने ही मत को तो हम प्रजा का मत नही बता रहे है ? प्रजा-सत्ता के तत्त्वो की दुहाई देकर हम अपनी कमज़ोरियों और कम-तैयारी को छिपाना तो नही चाहते है ?

यदि हम तैयार है तो दुनिया में मुश्किल कौन बात है ? कोई बात कठिन और दुस्साध्य केवल उन्ही लोगों के लिए होती है जो या तो खुद काम करना नही चाहते--दूसरों से करवाना चाहते है, या उसके लिए आवश्यक कष्ट और असुविधा सहने को तैयार नही होते । सच्ची लगन और व्याकुलता होने पर न तो अनुत्साह ही पास आ सकता है, न असुविधा । काम वास्तव में कठिन नही होता है, हमारी कमजोरी और कम-तैयारी उसे कठिन बना देती है । जो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से परमात्म-पद तक प्राप्त कर लेता है उसके लिए कौन बात मुश्किल है ? जो बड़े-से-बड़े हिंस्र, भयानक जंतुओ को अपना सेवक बना लेता है उसका अपना भविष्य बना लेना कठिन है ? यदि हमें खादी पहनना एवं घर-घर जाकर उसका प्रचार करना और पहनाना, आपस में प्रेम और एकता बढ़ाना तथा गांवों का संगठन कठिन मालूम होता है तो यह कहने में क्या जान है कि हम जानता के लिए सब करने को तैयार है ? छोटी-सी परीक्षा के लिए जो हिचकते हैं उनके लिए कठिन परीक्षा में पास होने की बड़ी-बड़ी बातें करना क्या स्वयं अपनेको और दूसरे को धोखा देना नहीं है ?

समय नाज़ुक है, टेढ़ा है; देश के सामने जीवन-मरण का प्रश्न है। राष्ट्रों के इतिहास के बनने-बिगड़ने का समय है। हमारा बल, वीर्य, पुरुषार्थ और स्वतंत्रता-प्रेम कसौटी पर कसा जा रहा है। घबड़ाने, पीछे क़दम हटाने, दबने और बोदापन दिखाने से राष्ट्र का सर्वनाश हो जायगा। मनुष्य होते हुए अनुत्साह रखना और उसकी शिकायत करना इस अवसर पर हमें लज्जाजनक मालूम होना चाहिए। इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हमारी माताएं और बहनें कड़वी घूटे पी रही हैं और हम मूछोंवाले मर्द बनकर अनुत्साह और शिथिलता के गीत गाते हुए समय गवां रहे हैं! अतएव भाइयो, सोचो, अपनी आत्मा को टटोलो, उसको कमजोर न होने दो। अपनी कमज़ोरियों और अनुत्साह का आरोप जनता पर न मढ़ो। यदि हमारी देश-भक्ति हमें बातें बनाने, विरोध बढ़ाने, आराम करने की ही सलाह देती है तो बेहतर है कि वह अपने और देश के भविष्य से निराश हो जाय। यदि हम आज़ादी के लिए अपना भविष्य बनाना चाहते हैं, उसकी भूख हमें लग चुकी है तो हमारे रास्ते को दुनिया की कोई भी रुकावट, कोई विघ्न-बाधा, कोई संकट और अमंगल नही रोक सकता। जो शक्ति उसे रोकने का प्रयत्न करेगी वह खुद आप ही नष्ट होगी और हमारा एक-एक क़दम आगे ही बढ़ेगा।

: ६ :

सत्याग्रह का मर्म

गई हुई आजादी को प्राप्त करने और गले पड़ी गुलामी को दूर करने का एक ही अचूक उपाय दुनिया में है—युद्ध। आजतक आम तौर पर हम संसार के इतिहास में सशस्त्र युद्धों—शारीरिक युद्धों को ही पाते हैं। पर भारत की वर्तमान अवस्था में शस्त्र-युद्ध की कल्पना तक करना नादानी थी। इसलिए महात्मा गांधी की प्रतिभा ने हमें युद्ध का एक दूसरा उपाय

बताया। वह है अहिंसात्मक सत्याग्रह। शस्त्र-युद्धो में प्रतिपक्षी एक-दूसरे के शरीर पर प्रहार करते है, फलतः दोनों का जोश और आवेश बढ़ता है। दोनों अधिकाधिक प्रकार की तैयारी करते हैं। अधिकाधिक नाशक सामग्री जुटाते हैं। अंत को एक की हार होती है, और एक की जीत। जो हारता है वह फिर जीतने की इच्छा से युद्ध की तैयारी करता है। इस तरह सारा जीवन युद्ध और विनाशक सामग्री तैयार करने में ही बीतता है। पश्चिमी संसार में सप्तवर्षीय युद्ध, शतवर्षीय युद्ध और पिछला अगणित धन-जन-संहारक विश्व-युद्ध प्रसिद्ध ही है। सारा संसार शस्त्र-युद्धों का, रक्तपात का, धन-जन-संहार का खासा अखाड़ा बना हुआ है। और कुछ लोग कहते है-- "यह स्थिति अनिवार्य है। यह राष्ट्रों के उत्कर्ष के लिए है। युद्ध के बाद ही शांति स्थापित होती है।" वे ऐसे धन-जन-शांति-नाशक आसुरी युद्धों को ईश्वरीय देन समझते हैं और उस सुदिन की बाट जोहा करते हैं। पर वे यह नहीं सोचते कि जिसके मूल में प्रतिहिंसा है, जिसका रूप रक्तपातमय है, अशांतिमय है, जिसका अंत फिर प्रतिहिंसा की वृद्धि में होता है, उससे समाज को सुख-शांति कैसे मिल सकती है? "बोये बीज बबूर के, आम कहां ते होय?" खुशी की बात है कि विश्व के राजनेता इस सत्य का कुछ-कुछ अनुभव करने लगे हैं--पंचशील के द्वारा अपनी रूढ़ मान्यताओं को ढीला करने का परिचय दे रहे हैं।

सत्याग्रह का रूप शस्त्र-युद्ध से बिल्कुल भिन्न है। वह प्रतिपक्षी के शरीर पर शरीर या शस्त्र द्वारा प्रहार नहीं करता, न उसे चोट पहुंचाने की इच्छा ही करता है। ऐसा प्रहार करना प्रतिपक्षी को उत्साहित करना है, सहायता देना है, अतएव प्रहार न करके पहले तो हम उसको हम पर आक्रमण या प्रहार करने से अनुत्साहित कर देते हैं, फिर जिस-जिस रूप में हमारे ऊपर उसका आधार है, वह सब हम उससे खीच लेते हैं, इससे वह अपने आप पंगु हो जाता है, और जब उसके प्रहारों का उत्तर हम क्षमा और दया के द्वारा देते हैं तब उसकी पशु-वृत्ति दबती है, और मनुष्यता जागृत होती है। बस, वह सदैव के लिए हमारा मित्र हो जाता है। यह प्रयोग सामुदायिक

रूप से संसार के लिए बिल्कुल नया है। भारतवर्ष को इस बात का बड़ा अभिमान है कि इस शातिमूलक, शांतिमय और शांतिदायी प्रयोग का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ। प्रयोगावस्था से ही युद्ध-पीड़ित और युद्ध-क्लांत देश चातक की तरह उसकी ओर देख रहे हैं।

अंग्रेजी सरकार तो संपूर्णतः हमारे सहयोग पर जी रही थी। हमारी कमजोरियों ने, हमारी भूलों ने, इसे यहां जमने दिया और फूलने-फलने दिया। हमारी कमजोरियों के बल पर वह अबतक जीती रही। न तलवारें लेकर वह यहां आई, न तलवार के बल पर उसने भारत को जीता, न तलवार के बल पर वह कायम थी। वह तराजू लेकर आई; हमारी फूट पर और फलतः हमारे सहयोग पर उसने हमारे घरों में पांव पसारे, हम पर जादू डाला, हम भुलावे में आ गये, उसके हो गये। तब सिर धुनते पछताते--"रे इसने नामर्द बना डाला!" पर साथ ही जान में और अनजान में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, अपने सहयोग के द्वारा उसकी जड़ को जीवन से सींच रहे थे। जिन्हें तलवार खीचने की चाह है, उनके पास चाकू भी नहीं था। और सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि उसके लिए मर-मिटने का हौसला भी उनके पास न था। इसलिए महात्माजी ने कहा--मरना सीखो। मारना आसान है, मरना मुश्किल है। जो मरना नहीं जानता वह मारना भी नहीं जान सकता। जिसे मरना याद है उसकी ओर दुनिया में कोई आंख उठाकर नही देख सकता। उसे कोई पलभर गुलामी में नही रख सकता। जबतक अंगरेजी सरकार की तलवार से, मशीनगन से डरते रहे, तबतक हम उनके साथ सहयोग करते रहे। जबतक हम समझते रहे कि शस्त्र-बल ही एकमात्र और सर्वोपरि बल है, मारना ही बहादुरी है, तबतक हम जरूर तलवार से डरते रहे और डरते रहेंगे। पर जिस दिन हमने यह रहस्य समझ लिया कि इस सरकार की जड़ हमारा सहयोग है, तलवार नहीं; जनता के नैतिक बल की सहायता है, पशु-बल नही, उसकी मशीनगनें और हवाई जहाज बेकार हो गये। जालिम सरकार से सहयोग वही कर सकते हैं जो स्वावलंबन से, आत्म-सम्मान से और स्वातंत्र्य-प्रेम से हीन हैं।

आजादी का सच्चा प्रेमी तो खुद मर मिटेगा; अपने बाल-बच्चों को बलि-वेदी पर चढ़ा देगा; अपने घर-बार को स्वाहा कर देगा, पर एक दिन भी जालिम सरकार के साथ सहयोग न करेगा। हमारे आंदोलन का उद्देश्य बदला लेना नहीं था, दंड देना नहीं था, विघ्न-बाधा डालना नहीं था, जहालत-गुंडापन नहीं था,' बेईमानी नहीं थी। हमारे आंदोलन का अर्थ था गौरव के साथ रहना, अपनी सहायता खींच लेना, प्रतिपक्षी के साथ सज्जनता का, नीति का वर्ताव करना, उसके बुरे कामों से असहयोग करते हुए उसे अपने विश्वास के अनुसार काम करने का हक कायम रखना, उसे समझाना-बुझाना कि 'भाई यह पाप है, इसे न करो'––आवश्यकता पडने पर स्वयं कष्ट उठाकर उसकी आखें खोलने का प्रयत्न करना। हमारे सत्याग्रह का यह मतलब हररिज नही था कि हम उसके रास्ते में रोडे डालें, कांटे बखेर दें, उसे गंदा कर दें, खुद खड़े हो जायं, लेट जावें, इस तरह उसे तंग करके, दिक करके, उसे रास्ते पर न चलने के लिए मजबूर करें। यह तो दबाव अतएव हिंसा था, उसकी काम करने की आजादी छीन लेना था। असहयोग-आंदोलन में जिन विद्यार्थियों ने रास्ते में लेटकर दूसरे विद्यार्थियों को परीक्षा-भवन में जाने से रोका था, उनका कार्य इस सिद्धांत के अनुसार असमर्थनीय माना गया था। इसी प्रकार जबर्दस्ती पिकेटिंग द्वारा दूकानदारों का, ग्राहकों का, रास्ता उनकी इच्छा के विरुद्ध रोककर जो कुछ किया गया, उनका भी समर्थन सिद्धांततः नहीं किया जा सकता।

हमने जब मतदाताओं से यह कहा कि भाई, ये जालिम सरकार से सहयोग करने जा रहे हैं, इन्हें मत न दो या कौंसिलों के उम्मेदवारों को समझाया कि यह बुराई न करो, इसके लिए यदि वे हमपर प्रहार करें, आक्रमण करें, तो भी उसे सहकर उनको उस रास्ते जाने से मना किया तो यह सत्याग्रह का मार्ग था। मना करना, समझाना-बुझाना, उनके लिए उनके दिये कष्टों को सहन करना उचित है। उनके रास्ते में विघ्न-बाधा उपस्थित करना, उन्हें रोकना, सत्याग्रह की मर्यादा के विपरीत है, क्योंकि इस प्रकार की नीति के अंदर विद्वेष, बदला और प्रतिहिंसा थी। भारत अब राम-

राज्य के लिए आतुर है। उसकी प्राप्ति तो शांतिमय शक्ति के द्वारा ही हो सकती है। भूदान और निर्माणात्मक विकास के कार्यक्रम इसी शांतिमय क्रांति की तैयारी के लिए देश के सामने उपस्थित किया गया है। हमारी जिन कमजोरियों के बल पर मौजूदा समाज-व्यवस्था टिक रही है उनमें सबसे बड़ी कमजोरी है हमारी आपस की फूट। इसलिए हमसे कहा गया है कि सब जातियों में एकता स्थापित करो। हम स्वदेशी धर्म को भूल गये थे। इसका प्रायश्चित्त हमने खादी-प्रचार के द्वारा किया। हमारे संगठन और अनुशासन के अभाव से अंग्रेजों की यहां दाल गल गई। हमने कांग्रेस की छत्रच्छाया में अपना संगठन और अनुशासन मजबूत किया, तभी हम राष्ट्र का बल बढ़ा सके और विदेशी सत्ता को हटा सके। अब और रही-सही कमजोरियों को दूर किये बिना आप नवीन क्रांति के लिए कैसे तैयार हो सकते हैं? माना कि यह काम श्रम-साध्य है, हमारे आरामतलब मिजाज़ के लिए कठिन है, पर क्या हम उससे मुह मोड सकते है? यदि मोड़ सकते हैं तो फिर नवीन क्रांति का नाम लेकर उसको, अपने देश को, और अपने मनुष्यत्व को लज्जित करने के लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए।

: ७ :

भावी स्वप्न

भूतकाल बूढ़े लोगों का, वर्तमान काल कर्मवीरों का और भविष्यत्काल नौजवानों का है। भूतकाल के अनुभव, वर्तमान के उत्साह और भविष्यत् की आशा का जबतक संयोग नहीं होता तबतक कोई महान् कार्य नही होता। कोई मनुष्य जबतक बूढ़ा, प्रौढ़ और जवान नहीं हो सकता तबतक वह पुरुषार्थी नही हो पाता। बूढ़े की तरह भूतकाल के अनुभवों पर शांत चित्त से विचार किये बिना, नौजवानों की तरह भविष्य के स्वप्नों से हृदय को आशामय बनाये बिना, प्रौढ़ की तरह वर्तमान के कर्तव्यों का निश्चय नहीं

कर सकता और न वह उत्साह-पूर्वक अपने कार्यक्रम को ही पूरा कर सकता है। यह त्रिवेणी संगम कार्य-सिद्धि का मूलमंत्र है।

भूतकाल जिसे स्वप्न मानता है, वही वर्तमान के लिए संभवनीय है और भविष्य के लिए तो प्रत्यक्ष ही है। बूढे लोग यदि युवकों की महत्वाकांक्षाओं को स्वप्न समझें तो यह उनकी भूल है। युवक यदि बूढ़े लोगों के अनुभवों को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखें तो यह उनकी भूल है। प्रौढ़ यदि बूढ़े और जवान दोनों से मित्रता नहीं रखें, अनुभव और आशा दोनों की उपेक्षा करें तो उन्हें स्फूर्ति नही मिल सकती, उनका जीवन बेकार है। यह तो आत्मघात है। जो इन तीनों का सम्मेलन, तीनों का सामंजस्य, अपने जीवन में, अपने चरित्र में, करता है, वही पुरुषार्थी कहलाता है, वही नेता होता है, वही जातियों और राष्ट्रों के भाग्य को पलट देता है।

भगवान् ने मनुष्य को आंखें आगे दी हैं, पीछे नहीं। इसका अर्थ यह है कि हमें सदैव आगे देखना चाहिए। भविष्यकाल पर निगाह रखनी चाहिए। दायें-बायें देखने की भी शक्ति दी है, जो सावधानी की सूचक है। परंतु पीछे तो मुडकर ही देखना पड़ता है, अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर पीछे देखा जा सकता है। जो रास्ता पीछे छोड़ आये उसे बार-बार देखने की और सतत याद रखने की आवश्यकता ही क्या है? उसकी बुनियाद पर हमारा महल खड़ा है, खड़ा हो रहा है, यह भान काफी है। उस बुनियाद को बार-बार खोदकर देखना कोई बुद्धिमानी होगी?

भारत के सामने आज बड़ी समस्या है। आज उसके जीवन में तीनों काल लड़ रहे हैं। भूतकाल कहता है—जहां है वहीं खड़े रहो; वैसे ही बने रहो; जो मिलता है उसे ले लो; भविष्य के 'सब्जबाग' पर पागल मत बनो, यह केवल मृगतृष्णा है। भविष्यत्काल कहता है—तू बूढ़ा है, सठिया गया है, डरपोक! तुझे मेरे चमत्कार का, मेरी करामात का क्या पता? चुप बैठा रह! मेरे रास्ते में कांटे न बखेर। वर्तमान बेचारा हैरान है। उसकी बात ये दोनों नहीं सुनते। दोनों अपनी धुन में मस्त हैं। इससे वर्तमान कर्तव्य-मूढ़ और कर्तव्य-हीन हो रहा है। वह पुरुषार्थ की खोज में है। कोई पुरु-

षार्थी ऐसा है जो तीनों में समझौता करा दे ? दूर से एक मंद आवाज़ तो आती है कि भारत मां की गोदी ख़ाली नहीं रह सकती। उसकी अंगुली पूर्व की ओर उठती नज़र आती है।

भावी स्वप्न——भारत का भावी स्वप्न निश्चित है। वह भूतकाल के खंडहर से निकलकर, वर्तमान की सीमा पर आ पहुंचा है, जहां वह भविष्यत् के गर्भ में लीन हो जाता है। स्वराज्य अब स्वप्न की बात नहीं रही, संभवनीयता का भी विषय नहीं रहा, प्रत्यक्ष उदय हो गया है। पूर्णोदय अर्थात् रामराज्य के पहले उसे अभी विरोधियों से युद्ध करना है; उसका प्रेम का युद्ध है, शांति का युद्ध है। अपने पुरुषार्थ की, अपने स्वावलंबन की, वृद्धि ही उसकी मुख्य शक्ति है। अहिंसा, सब जातियों की एकता, विकेंद्रीकरण व पंचफसला, ये चार उसके साधन हैं। यही वर्तमान काल का चतुर्विध पुरुषार्थ है। यही रामराज्य का अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है। रामराज्य बुद्धि-युद्ध और वाग्युद्ध से नहीं मिलेगा। वह तो पुरुषार्थ से मिलेगा, तप और त्याग से मिलेगा। जहां पुरुषार्थ है, वहां सिद्धि है। पुरुषार्थ का अर्थ दांव-पेच नहीं, चालबाज़ियां नहीं। पुरुषार्थ तो सत्य और निष्कपटता का सार है। पुरुषार्थी इस बात से नहीं हिचकता कि मेरा कार्य जन-रुचि के प्रतिकूल है। वह तो जनरुचि को सुधारता है, बनाता है। वह प्रकृति का गुलाम नहीं, राजा होता है। वह समय के प्रवाह को बदलता है, वह नवीन युग का निर्माण करता है, वह स्वप्न को प्रत्यक्ष कर देता है। वह भूत-वर्तमान सबको एक घाट पानी पिलाता है। भारत का भावी स्वप्न इसी पुरुषार्थ की राह देख रहा है। हमारे पास भी जनता के लिए एक ही संदेश है—"पुरुषार्थ यदि भाव-स्वप्न को प्रत्यक्ष करना चाहते हों तो पुरुषार्थ करो—'पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।'

: ८ :

आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता

स्तुति मनुष्य को प्रिय होती है और वह टीका से नाराज होता है—यह अक्सर देखा जाता है, किंतु यह उन्नतिशील मनुष्य का लक्षण नहीं है। जिन्होंने देश-सेवा का संकल्प किया है, उनकी स्थिति उल्टी होनी चाहिए। यानी टीका और निंदा का स्वागत करने की ओर स्तुति के प्रति उदासीन रहने की वृत्ति होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब हम आत्मनिरीक्षण की ओर रुचि रखें। इसके बिना न हम अपने-आपको ही ठीक-ठीक पहचान सकते हैं, न दूसरों से ही ज्यादा लाभ उठा सकते हैं। जो आत्म-परीक्षण करते है उनमें नम्रता होती है, दूसरों के प्रति सहिष्णुता और उदारता होती है। ऐसे ही व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक उपयोगी और सफल हो सकते हैं।

आत्म-परीक्षण के उदाहरण के लिए एक साथी कार्यकर्त्ता का अच्छा पत्र मेरे पास आया है। जिसका सार इस प्रकार है :

"मुझे हमेशा यह खयाल बना रहता है कि मेरी तरफ से जान या अनजान में कोई ऐसा काम न हो जाय जिससे आपके हृदय को आघात पहुंचे। फिर भी मुझसे कुछ-न-कुछ ऐसा हो ही जाता है। मुमकिन है, आपकी श्रेष्ठता पर इनका कुछ भी असर न हो। मगर मेरे लिए तो यह बडा दुःख का विषय है। यदि मुझमें आघात बर्दाश्त करने की क्षमता नही है तो मुझे किसीको भी कोई आघात न पहुंचाना चाहिए। होना तो यह चाहिए कि मुझे चाहे जितने भी आघात पहुंचें मगर मेरी तरफ से तो एक भी आघात न होना चाहिए। स्वतंत्रता की जिस राह पर आप जा रहे हैं, मेरी भी जिंदगी के लिए यही एक रास्ता और राहत है। शायद आपको कष्ट पहुंचानेवाले कम थे, जो मैं एक और मिल गया। वर्षो के अच्छे-बुरे संस्कारों से मैं इतनी जल्दी कैसे छुटकारा पा सकता हूं ? हां, मैं जाग्रत अवश्य रहता हूं और प्रयत्नशील भी हूं। मैं चाहता हूं कि मुझसे कोई भी त्रुटि हो तो मुझे बता

दिया करें।"

मैंने इसका जो उत्तर इन्हें दिया है उसका आवश्यक अंश, जिससे दूसरे कार्यकर्त्ता तथा अन्य भाइयों को लाभ हो सकता है, यहां देता हूं---

"तुम्हारे पत्र म आत्म-निरीक्षण और अपनी त्रुटियों के प्रति दुःख है---यह संतोष की बात है। उन्नतिशील सेवक में ये दोनों बातें अवश्य होनी चाहिए। तुम्हारे अंदर स्वतंत्रता की जो आग है उसीने हमारा संबंध जुड़ाया है। मैं चाहता हूं कि मेरे एक-एक साथी शेर बनकर रहें---दूसरों को खाने के लिए नहीं, दुखियों, प्रपीड़ितों और शोषितों की रक्षा और स्वाधीनता के लिए। यह कहन की जरूरत नही कि जो व्यक्ति जितना ही निर्दोष होगा, अर्थात् सद्गुणों से, सत्प्रवृत्तियों से युक्त और दुर्गुणों से तथा दुष्प-वृत्तियों से हान हागा, उतना ही वह तेजस्वी यानी शेर हो सकेगा। तुममें क्रोध काफा है, इसासे असहिष्णुता भी है। बदले का भाव तो तभी तक रह सकता है जबतक हम अपने साथ अधिक न्याय करने की वृत्ति रखें। जब दूसरों के गुणों पर और अपनी त्रुटियों पर ज्यादा ध्यान दोगे तब यह दोष दूर हान लगगा।

"अपनी त्रटियों के भान के बोझ से तुम्हें दब न जाना चाहिए। त्रुटियों से लड़ो, उनसे दबो नहीं, मन को दुर्बल मत होने दो। जब-जब क्रोध या बदले का भाव आव तब-तव मन को दलीलों से समझाओ, जैसाकि ऐसे अव-सरों पर हम दूसरों को समझाते हैं। यदि इतना क्रोध आ जाय कि दलील करन और मन की सुनने की स्थिति में बुद्धि न रह जाय तो उस समय ठंडे पाना म स्नान कर लिया करो---या राम-नाम का जप करने लगो। इससे तुम्हें आश्चर्यजनक लाभ होगा। फिर धीरज रखो, लगन के साथ सच्चे दिल से प्रयत्न करो---इससे अधिक कोई कुछ नही कर सकता।

"मेरे दुःख के विचार से तुम सद्गुणी बनो, इससे ज्यादा अच्छा हो कि अपन ही हित और उन्नति के विचार से बनो। यह अधिक स्वार्थ-प्रेरक वस्तु है। मैं जितनी ऊंचाई पर चलना चाहता हूं उसमें इस तरह के दुःख होना अनिवार्य है। यदि मेरे साथी मेरे साथ नग्न व्यवहार करते है, आत्म-निरी-

क्षण-प्रिय ह, अपनी छोटी भी त्रुटि के प्रति उदासीन नहीं हैं, अपने दोषों से लड़ते रहते हैं तो फिर ऐसे दु:खों को सहन करने का बल मिलता रहेगा। तुम मेरे निकट बिल्कुल स्वतत्र हो, ऐसा समझकर सदा कहते और लिखते रहो। तुम असह्य दु:ख पाते रहो और मैं बेखबर रहूं, इससे मुझे अधिक क्लेश हो सकता है।"

: ६ :

सेवा का व्यसन

सेवा मौज-शौक की चीज नही है। यह सस्ती भी नही। बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। पेट भरन और नाम कमाने के पीछे पड़नेवालों की गुजर इसमें नही हा सकती। इस मार्ग में अखीर तक वही टिक सकते हैं, जिन्हें सेवा का व्यसन हो गया हो। 'सर्वस्व स्वाहा' करने की तैयारी करके ही इसमें जो आग कदम बढ़ाते हे उन्हें इसका सच्चा आनंद मिलता है। एसे एक सेवक का उदाहरण मेरे सामने है। वह एक डाक्टर है। कुष्ठियों की सेवा-सुश्रषा और चिकित्सा का काम उन्होने शुरू किया है। उनके घर के लोग उन्हें विवाह-पाश में बांध देना चाहते हे। उन्हें भय है कि फिर सेवा के आनंद में त्रुटि होने लगेगी। उन्होंने एक पत्र अपने बड़े भाई को लिखा, जिसके एक-एक अक्षर से उनकी सेवा की मस्ती टपकती है। उसका आवश्यक अंश पाठकों के लाभार्थ यहां देता हूं :

"आप जानते हैं कि मैंने यहा कुष्ठ-निवारण का काम शुरू किया है। दिन-पर-दिन रोगियों की तादाद बढ़ती जा रही है। मैं भी उनके संपर्क में आता हूं और मुझ उनकी छूत लग जाने का भी अंदेशा रहेगा, फिर भी मुझे इसमें एक नय प्रकार का आनंद अनुभव हो रहा है, जिसका बयान लिख-कर नही कर सकता। आप यह भी जानते ह कि सच्ची सार्वजनिक सेवा करने की जिसे महत्वाकांक्षा हो उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए

और वैयक्तिक जीवन शुद्ध रखकर जितना कम हो सके अपना खर्च कम कर लेना चाहिए। इसीमें उसकी भलाई है। अपने व्यक्तित्व को समष्टि में जितना लीन कर सके उतना ही उसके लिए लाभदायी है।

"मैंने अपना सार्वजनिक जीवन एक शौक और कर्त्तव्य के रूप में शुरू किया था। मुझे स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि वह इस प्रकार सेवा का रूप ले लेगा। और अब खूबी यह है कि वह मेरे लिए एक व्यसन बन रहा है। उसमें मुझे दुःख में भी सुख नज़र आता है। जिस प्रकार शराबी को शराब का चस्का लग जाता है और छूटता नहीं, उसी प्रकार मैं इस व्यसन को नहीं छोड़ सकता। मगर म तो देखता हूं कि यह नशा शराब के नशे से भी ज्यादा है, क्योंकि इसके परिणाम में कोई दुःख नहीं है। इसकी जानकारी हरेक को रहती है। इस व्यसन में वह खुमारी मालूम होती है, जो मर जाने पर भी अपना नशा चढ़ाती है।

"कल्पना कीजिये कि जो शख्स आपसे बहन•••को छोड़ देने के लिए कहे तो वह आपको कितना अप्रिय लगेगा? वैसी ही हालत मेरी होती है जब मुझे कोई सार्वजनिक सेवा से हटाकर वैयक्तिक जीवन की ओर ढकेलना चाहता है।"

*

४. समस्या

१. संसार की समस्या
२. हमारा अन्नदाता
३. हमारे पाप
४. सार्वजनिक और व्यक्तिगत संबंध
५. ईश्वर किनका है ?
६. सार्वजनिक चर्चा से लाभ
७. एकता की समस्या
८. हिंदू-जाति और नंग साधु
९. विवाद-युग
१० मालिक और मजदूर
११. दलबंदियों का मूल
१२. सिद्धांत नहीं, स्वभाव
१३. मजहबीराज या जनतंत्र ?

: १ :

संसार की समस्या

मनुष्य सुख चाहता है । सुख की खोज में उसने कुटुंब बनाया, जाति बनाई, बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्रनिर्माण किये, असीम धन-वैभव जुटाया, आमोद-प्रमोद सौंदर्य के साधन एकत्र किये, पर सुख का स्वाद उसे न मिला। शरीर को सुख पहुंचानेवाली, इंद्रियों को तृप्त करनेवाली, मन को बहलानेवाली भोग-सामग्री में उसने शुरू-शुरू में सुख माना; परंतु ज्यों-ज्यों वह इन भोग-सामग्रियों की आराधना में फंसता गया, त्यों-त्यों सुख की चाह और मन की अशांति बढ़ती गई और उसने भोग को छोड़कर सुख का कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहा। सम्राट् और चक्रवर्ती का राज-वैभव और शत्रु-संहार का सैन्य-वैभव जहां थक गया, कुबेर और कारू का धन-वैभव जहां हताश होगया, रति और कामदेव का शृंगार और सौंदर्य-वैभव जहां न पहुंच सका, कवि और कलाकर जहां बीहड़ में भटकते रहे, अर्थात् जिस समस्या को भोग-प्रचार करके न हल कर पाये, उसके लिए योगियों ने आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने गहरा विचार करके देखा कि तमाम सांसरिक ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी मनुष्य दुःखी ही बना हुआ है। तब उन्होंने सुख के मूल की खोज शुरू की। उन्होंने सोचा कि मनुष्य आखिर क्यों दुःखी रहता है। इस नतीजे पर पहुंचे कि मनुष्य इच्छाएं तो बहुत करता है, अपनी आवश्यकताएं तो बहुत बढ़ा लेता है, इनमें तो बहुत स्वतंत्र है, परंतु अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह बहुत परतंत्र है। इससे उसकी बहुतेरी आवश्यकताएं और इच्छाएं अधूरी रह जाती हैं और इस कारण वह दुःखी बना रहता है। जब हर आदमी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाने लगता है तब उनमें परस्पर संघर्ष और कलह होने लगता है, क्योंकि एक की इच्छाएं और आवश्यकताएं दूसरे की इच्छाओं में बाधक होने लगती हैं।

फिर उन्होंने देखा कि इच्छाओं और आवश्यकताओं का तो कोई अंत ही नहीं है। मनुष्य जितनी चाहे बढ़ा सकता है, और दूसरी बात यह कि उनकी तृप्ति के साधन मिलते रहने पर भी, अनेक भोगों को भोगने पर भी, मनुष्य अतृप्त और दुःखी ही रहता है। तब वे इस परिणाम पर पहुंचे कि इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा बाधे बिना मनुष्य को सुख-शांति नहीं नसीब हो सकती, और यह अंतिम निर्णय कर दिया कि वासना का क्षय हुए बिना मनुष्य को पूर्ण और अक्षय सुख नही मिल सकता। उन्होंने कह दिया कि सुख भोग से नहीं, योग से ही मिल सकता है। मनुष्य भोग जितना कम और योग जितना अधिक करेगा उतना ही वह अधिक सुखी होगा। भोग के मानी हैं इच्छाओं और आवश्यकताओं की अमर्याद बढ़ती और योग के मानी है मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं तक उनका सीमित रहना। मनुष्य की साधारण आवश्यकता क्या है? पेटभर स्वच्छ सादा भोजन, तनभर कपड़ा, रहने के लिए स्वच्छ हवादार मकान, बाल-बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण आदि के लिए आवश्यक धन। इससे अधिक की इच्छा रखने या वस्तुओं का संग्रह करनेवाले को उन्होंने चोर की उपाधि दी और अपरिग्रह को सुख का मूल सिद्धांन्त निश्चय किया एवं अपरिग्रह के सिद्धांत पर समाज की रचना करनी चाही।

परंतु इच्छाओं का त्याग और उससे घटकर अपरिग्रह की बात एकाएक मनुष्य को जंची नही। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा भोग-सामग्रियों के बंटवारे की चेष्टा की गई। परंतु भोग-लोलुपों की महत्त्वाकांक्षाओं ने उसको भी छिन्न-भिन्न कर दिया। तत्त्व-रूप से यद्यपि सुख की समस्या हल होगई, तथापि व्यवहार रूप में बहु-जन-समाज के सामने वह अभी तक बिना हल हुए ही खड़ी है। भारतवर्ष के जीवन में यद्यपि भोग की जगह संयम का भाव फैला हुआ नज़र आता है तथापि उनका संयम अकर्मण्यता और कायरता के कीटाणुओं से आक्रांत होकर उनके दुःख का कारण बन रहा है। उनके संयम का फल तो होना चाहिए था अधिक सुख, अधिक स्वतंत्रता; परंतु आज दुनिया में भारतवासी सबसे अधिक दुःखी और पराधीन बने बैठे हैं। सुख

का मूलमंत्र जानते हुए भी भारतवासी उनका प्रयोग न जानने के कारण सुख से वंचित हो रहे हैं।

इधर नई दुनिया के लोग भी सुख के लिए छटपटा रहे हैं। भारत जिस प्रकार सुख की शोध में पहले भोग की शरण में पहुंचा, फिर योग के चरणों में उसे सुख-शांति मिली, उसी प्रकार पश्चिमी ससार भी अभी भोग ही में भटक रहा है। यद्यपि योग की किरणें वहांतक जा पहुंची हे तथापि उनका प्रकाश अभी उन्हें आकर्षित नहीं कर सका है। भारतवर्ष के पास औषध है, पर वह प्रयोग भूल गया है; पश्चिमी दुनिया मे जीवन है, किंतु दिशा-भूल हो रही है।

व्यावहारिक संसार के सामने आज यह भी समस्या खड़ी है कि समाज में सुख और शांति की वृद्धि किस तरह हो। जातियो और राष्ट्रों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के भाव प्रबल हो रहे हैं और युद्ध का खतरा निरंतर बना ही हुआ है। एक ओर साम्राज्यवाद अपने नये-नये रूप पलटकर सामने आता है तो दूसरी ओर कम्यूनिस्ट अलग अपनी समाज-रचना की योजना लिये फिरते हैं। एक कहता है, सारा शासन-यंत्र जबतक एक-सूत्र से संचलित न होगा तबतक समाज में सुख-शांति स्थापित न होगी। दूसरा कहता है, जबतक संपत्ति का बंटवारा समान रूप से न होगा तबतक समाज से कलह दूर नही हो सकता। प्रजावादी कहते है, जबतक प्रजा के मत से समाज और राज्य का काम न चलेगा तबतक समाज की उन्नति नही हो सकेगी। तात्पर्य यह कि भौतिक पदार्थों में ही अबतक दुनिया सुख की शोध कर रही है। जहांतक मेरी बुद्धि पहुंच पाई है, मुझे साम्यवादियों का दल भौतिक दृष्टि से सुख और सुव्यवस्था के अधिक नजदीक मालूम होता है। दुनिया में सुख प्राप्त करने के जितने साधन हैं वे सबके लिए समानरूप से सुलभ होने चाहिए। चाहे अमीर हो या ग़रीब, स्त्री हो या पुरुष, सभ्य हो या असभ्य, जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए सबको समान रूप से सुविधा होनी चाहिए। केवल धन, सत्ता या विद्या के बल पर जब किसीको विशेष सुविधा मिलने लगती है और जब

उसे वह अपना अधिकार समझने लगता है तभी समाज में कलह उत्पन्न होता है। बलवान् और निर्बल ये दो वर्ग निर्माण होने लगते हैं और बलवान क्रमशः निर्बल को निगलते जाते हैं। आज दुनिया में यही हो रहा है और इसीलिए विश्व समाज की शांति के लिए चिंताशील नज़र आता है। मेरा यह विश्वास है कि निकट भविष्य में संसार को साम्यवादियों का यह हल मानना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि और तर्कशक्ति का उससे समाधान हो जाता है और उसमें अधिकांश लोगों का अधिक हित छिपा हुआ है।

फिर भी यह हल मेरी दृष्टि में एकांगी है। एक हद तक समाज का हित-साधन इससे होगा। जहातक सुख-सामग्री के बंटवारे की वर्तमान प्रथा मे दोप है वहांतक तो यह हल काम दे देगा; पर संपत्ति और सुख-सामग्री को बढ़ाने की अभिलाषा उससे शांत न होगी। आज निर्धनों और धनवानों, वैभवशालियों और दीन-दुखियों में, राजा और रंक मे जो विशाल खाई पड़ गई है वह इससे अवश्य बहुत-कुछ भर जायगी, यह द्वेप बहुत-कुछ कम हो जायगा; परंतु साथ ही धनैश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा बहुत-कुछ बढ़ भी जायगी। जबतक सुख-भोग का कोई सीमित आदर्श समाज के सामने नही रखा जायगा, तबतक प्रतिस्पर्द्धा और वर्ग-कलह से समाज को बचाना, असंभव है। यह सीमा दो प्रकार की हो सकती है—(१) मनुष्य अपने शारीरिक श्रम से जितना उपार्जन करे उतना ही सुख-भोग वह कर सकता है। (२) मनुष्य की साधारण आवश्यकताएं निश्चित कर ली जायं और उससे अधिक परिग्रह करने का किसीको अधिकार न रहे। दोनों में मनुष्य से संयम करने के लिए कहा गया है। पहली बात कृत्रिम बंधन-सी पर अधिक व्यावहारिक है। वह मनुष्य की इच्छा की मर्यादा नहीं बांधती, व्यवहार में ऐसी शर्त लगा देती है कि अधिक इच्छा करते हुए भी मनुष्य अपने-आप उसकी पूर्त्ति नहीं कर सकता, किंतु मनुष्य बार-बार इच्छा करते हुए भी जब इस शर्त के कारण उसको पूरा न कर पावेगा, तब इस शर्त को तोड़ने की उसकी इच्छा प्रबल हो उठेगी और आगे चलकर यह शर्त ठहर न सकेगी। इसके विपरीत दूसरी

बात मनुष्य की इच्छा को ही नियंत्रित कर देती है। वह उसके सामने ऐसा आदर्श उपस्थित करती है कि मनुष्य अधिक अच्छा करना ही बुरा समझने लगता है। इसलिए मेरी राय में यह उपाय अधिक स्थायी और अधिक फल-दायी है। हां, पहली सामाजिक व्यवस्था चालू हो जाने पर दूसरे आदर्श का प्रचार सुलभ हो सकता है। यह भी एक मत है कि समता की ऐसी व्याव-हारिक जीवन-विधि बिताते-बिताते स्वतः भी सादगी की भावना उदय हो सकती है। साम्यवादियों की समाज-व्यवस्था में, जहांतक मैंने समझा है, अभी इसके लिए स्थान तजबीज नहीं हुआ है; शायद उनका समाज-शास्त्र अभी इस परिणत अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ है। वे समानता के सिद्धांत तक तो पहुंच गये हैं, अपरिग्रह या संयम के सिद्धांत तक पहुंचना अभी बाकी है। यदि वे सचमुच वैज्ञानिक समाज-शास्त्री हैं, तो उन्हें भोग को छोड़कर योग पर आना पड़ेगा, इसमें मुझे तिलमात्र संदेह नहीं है।

कुछ मित्र कहते हैं कि भोग से पुरुषार्थ और कर्मण्यता की वृद्धि होती है और योग से संसार के प्रति उदासीनता और उसके फलस्वरूप अकर्मण्यता बढ़ती है। मेरी समझ में यह भ्रम है। भोग से पुरुषार्थ की नहीं, स्वार्थ की वृद्धि होती है, जिसका अंत होता है या तो विलासिता में या अत्याचार में; और दोनों का अंतिम फल होता है घोर पतन। योग से जो उदासीनता आती है वह संसार के प्रति नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ के प्रति होती है, जिसका पर्यवसान होता है सेवा-भाव की वृद्धि में। सच्चे योगी की कसौटी ही यह है कि उसका एक-एक क्षण दीन-दुःखी, पीड़ित-पतित की सेवा में व्यतीत होता है। भारत ने योग-मार्ग का अनुसरण तो किया, किंतु कर्मण्यता को भुला दिया, इससे वह निर्जीव और निःसत्त्व हो गया। जीवन का दूसरा नाम है कर्म। अपने लिए जो कर्म किया जाता है, उससे आसुरी जीवन बढ़ता है; दूसरों के लिए जो कर्म किया जाता है उससे दैवी जीवन मिलता है। कर्म-हीन जीवन वृथा है। मेरी राय में निकम्मा मनुष्य पशु से भी गया-बीता है।

सुख के मूल को फिलहाल यदि एक ओर रख दें और फिर विश्व की

वर्तमान समस्या का विचार करें, तो वह उतनी राजनैतिक नहीं मालूम होती जितनी कि आर्थिक है। पिछले जमाने की तरह आज राज्य और साम्राज्य केवल दिग्विजय के लिए अथवा चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के लिए नही रहे। राजसत्ता आज ध्येय से हटकर साधन बन गई है। नित-नये भोगों की चाह दुनिया में बढ़ रही है। बिना धन और ऐश्वर्य के उसकी पूर्त्ति नही हो सकती। धन बिना व्यापार-उद्योग और कल-कारख़ाने के नही मिल सकता। बड़े-बड़े व्यापार-धंधों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए राजसत्ता की आयोजनाएं हम देख रहे है। संसार में आज वह राज्य प्रबल है, जिसके पास कच्चे माल के साधन विपुल है और तैयार माल की बिक्री के लिए विशाल बाजार है। जिन देशों में कच्चे माल की बहुतायत है और तैयार माल की बिक्री का बड़ा बाजार है, उनपर सब देशों की ज़हरीली नज़र गड़ी हुई है। भारत ऐसे देशों में सबसे बड़ा नही तो एक विशाल देश अवश्य है। ब्रिटेन के व्यापारी इसीलिए उसे चंगुल में रखे हुए थे।

यह कहना शायद ग़लत न होगा कि इस अनियंत्रित भोग-तृष्णा का ही एक फल है वर्तमान साम्यवाद। साम्यवाद यद्यपि सारे समाज की भोग-तृष्णा पर प्रहार नहीं करता है तथापि धनैश्वर्य में बढ़े-चढ़े लोगों को वह संयम का पाठ अवश्य पढ़ाना चाहता है। तात्त्विक जगत् में जिस प्रकार संयम या अपरिग्रह ही समाज के सुख का मूल सिद्धांत है उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में शारीरिक श्रम का सिद्धांत उच्चकोटि का है। शारीरिक श्रम ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा संपत्ति एक जगह एकत्र नही हो पाती, जगह-जगह यथेष्ट मात्रा में बंट जाती है। आजकल उद्योग-धंधे और कल-कारखाने शारीरिक श्रम के सिद्धांत पर नहीं, बल्कि धन के प्रभाव पर चल रहे हैं, इसलिए मुनाफे का बंटवारा श्रम के लिहाज़ से नहीं, बल्कि शेयरों के लिहाज़ से होता है और यही मूल है असमान बंटवारे का। अतएव यदि बड़े-बड़े कल-कारख़ाने और उद्योग-धंधे समाज के लिए अभीष्ट और अनिवार्य हैं, तो मुनाफ़े के बंटवारे की वर्तमान पद्धति में अवश्य सुधार करना पड़ेगा। पर यदि हम अपने भोगों की एक सीमा बांध ल और मनुष्य की शक्ति का पहले

उपयोग करके फिर, उसके कम पड़ने पर, भाप या बिजली की सहायता लें तो समाज की विषमता और बेकारी दोनों का सवाल आसानी से हल हो सकता है। बड़े-बड़े कल-कारखानों की कल्पना उन्हीं देशों में उदित और विकसित हुई है जहां मानव-शक्ति कम थी। भारतवर्ष जैसे देश में जहां करोड़ों लोगों को साल में छः महीने बेकारी में बिताने पड़ते हैं, बड़े-बड़े कारखानों को खड़ा करना मानव-शक्ति का तिरस्कार करना है और उसपर भी मुनाफ़े के बंटवारे में विषमता से काम लेना तो मानों करेले को नीम पर चढ़ाना है। कितने आश्चर्य की बात है कि अपनी भोगेच्छा को तनिक संयम में रखना मनुष्य को, शिक्षित मनुष्य को, कठिन बात मालूम होती है, और दुनिया-भर की आसुरी महत्त्वाकांक्षाएं और उनकी सिद्धि के लिए उचित और अनुचित सब प्रकार के भगीरथ प्रयत्न उसे आसान मालूम होते हैं।

सारांश यह है कि दुनिया सुख की शोध में है। संयम, अपरिग्रह अथवा इच्छाओं का नाश सुख का मूलमंत्र है। परंतु इसकी साधना उसे कठिन मालूम होती है। वह सरल उपाय चाहती है। साम्यवादियों ने संपत्ति के समान बंटवारे का हल उसके सामने रखा है। एक हद तक वह संसार की विषमता कम कर सकेगा। यदि शारीरिक श्रम के मार्ग को समाज स्वीकार कर ले तो समानता के सिद्धांत की अपूर्णता कम हो सकती है। इस दृष्टि से विश्व की प्रधान समस्या आज साम्पत्तिक है, राजनीति तो उसका अंगमात्र है। कल-कारखाने इसे हल नहीं कर सकते। श्रम-धर्म या मानवीशक्ति ही इसका एकमात्र उपाय है। ऐ उलटी दुनिया, जड़ता को छोड़कर चैतन्य की पूजा कर।

: २ :

हमारा अन्नदाता

किसान हमारा अन्नदाता है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, और कम-से-कम भारत में हम इस बात को भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि आज बहुसंख्यक होते हुए भी सबसे अधिक दीन-हीन, दुखी, पंगु और दबे हुए यदि कोई हैं तो वे हैं हमारे ये अन्नदाता ही। इसका कारण क्या है ? उनकी अविद्या, अपने अधिकारों, अपनी आवश्यकताओं, अपनी असुविधाओं और अपनी परिस्थिति का अज्ञान। भारत में पिछले आर्यों और हिंदुओं के जमाने में तो राजा-प्रजा पिता-पुत्र के आदर्श को मानते थे; राजा लोग स्वयं चाहे आपस में लड़ते रहे हों और भोग-विलास में भी कोई-कोई अपने ऐश्वर्य को स्वाहा कर देते हों, परंतु अंगरेजी राज की तरह प्रजा को—किसानों को लूटने और बेबस बनाये रखने की नीति प्रचलित करने का पाप उन्होंने नहीं किया था। मुसलमानो के समय में धर्म की वृद्धि के लिए चाहे जुल्म-ज़्यादती हुई हो, पर केवल लूटने और चूसने की आसुरी नीति के शिकार ये किसान उस समय भी न हुए थे। हिंदुस्तान में तो अंगरेजों के जमाने में किसानों की जो तबाही और बरबादी हुई, वह इतिहास में कही न हुई होगी। रूस में ज़ारशाही का नामोनिशान मिटकर आज जो किसानों का राज्य क़ायम हो गया है, उसका कारण जार की लूट और जोरों-जुल्म की नीति ही है।

अंगरेजी शासन में किसानों के आंदोलन बराबर होते रहे है। चंपारन में भी निलहे गोरों के खिलाफ़ किसानों ने आंदोलन किया था और महात्माजी के नेतृत्व में उनके कष्ट दूर हुए। खेड़ा, बोरसद, और बारडोली में भी किसानों को सत्याग्रह करना पड़ा और अंत में सरकार को अपनी हार-माननी पड़ी। बारडोली की विजय ने तो एक तरह से ब्रिटिश सरकार की जड़ को ही हिला दिया था। उसने इस बात पर अच्छी और गहरी रोशनी डाल दी थी कि एक तो सरकार किस तरह हर बंदोबस्त में लगान बढ़ाती चली जाती थी और दूसरे उसकी मदांधता किसानों की न्याय-युक्त और

उचित बात को सुनने के लिए भी सहसा तैयार नहीं होती थी। जबसे महात्मा गांधी भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे तभीसे उन्होंने किसानों के दु:खों की ओर ध्यान दिया और कांग्रेस का भी ध्यान ग्राम-संगठन की ओर बहुत-कुछ खींचा। चरखा-संघ, यदि किसी समाज की सेवा के लिए, स्थापित हुआ है तो यह है हमारा अन्नदाता-समाज ही। हमें तो अपनी सारी शक्ति किसान-सेवा में ही लगा देनी चाहिए। तो हम इस बात पर विचार करें कि किसानों के दु:ख क्या है और वे कैसे दूर हो सकते हैं। उनके दु:खों को हम इतने भागों में बांट सकते है--(१) राजनीति, (२) कृषि, (३) शिक्षा और (४) स्वास्थ्य-संबंधी। सामाजिक और आर्थिक दु:खों का समावेश इन्हीमें हो जाता है।

१. राजनीतिक दु:ख:

भारत के स्वाधीन होने से अब बालिग मताधिकार होगया, इससे देश की राजसत्ता में उनकी आवाज होगई। परंतु यह काफी नही। प्रचीन समय में हर गांव प्राय: स्वतंत्र था---लगान दे देने के अलावा गांव के सारे शासन-प्रबंध की जिम्मेदारी गांववालों पर ही थी। आज तो किसान हम लोगों के लिए अन्न पैदा करने की मशीन रह गया है। यद्यपि किसान आज जमीन का मालिक हो गया है तो भी वह नाम-मात्र का है। आज भी उनमें यह भाव नही आ पाया है कि वे भारत के उसी प्रकार एक प्रतिष्ठित नागरिक है जैसे कि कोई लोक-सभा का सदस्य या मंत्री। यद्यपि आज किसानों को बहुत हक दे दिये है फिर भी मेरी राय में किसानों की राजनीतिक स्थिति सुधारने के लिए इतनी बातें होनी चाहिए--

(१) सभी जगह यह क़रार दिया जाय कि ज़मीन का मालिक किसान है और सरकार को वह जो कर या लगान देता है, वह सरकार का हक नहीं है, बल्कि सरकार का खर्च चलाने का आंशिक बोझ है, जो उसे कर्तव्य समझकर उठाना चाहिए।

(२) कर या लगान किस हिसाब से लिया जाय, इसका निर्णय किसानों के प्रतिनिधियों द्वारा हो।

(३) गांव के भीतरी प्रबंध में किसान स्वतंत्र हों। गांव की जो पंचायत हो वही गांव की सब व्यवस्था की जिम्मेदार रहे।

जमीन का मालिक राज्य (स्टेट) रहे या किसान, इसके संबंध में दो मत हैं। एक मतवालों का कहना है कि जमीन राज्य की है और किसान तो उसके जोतने का किराया देता है। किराया घटाना-बढ़ाना मालिक की मर्जी पर है—किसान का जी चाहे, जमीन जोते, जी चाहे, न जोते। दूसरे पक्षवालों का कहना है कि जमीन किसान की है। वह मेहनत करता है, उसे जोतता-बोता है, इसलिए उसकी है। सरकार तो अपने खर्च के लिए थोड़ा-सा कर उससे ले लिया करे। ज़मीन राज्य की है—इस सिद्धात को मानने में तब तो कोई आपत्ति न होगी जबकि सारा राज्य वास्तविक अर्थ में जनता का हो जाय, पर जहां राजा कोई एक व्यक्ति हो, अथवा ऐसा व्यक्ति-समूह हो, जो अपने लाभ के लिए राजकाज करता हो वहां जमीन का मालिक राज्य को मानना अनुचित है। जबतक जनता यह अनुभव नही करने लगती कि राज्य हमारा और हमारे हित और सुख के लिए है तबतक ज़मीन पर किसान का ही स्वामित्व रहना चाहिए—और ऐसी अवस्था तबतक नही आ सकती जवतक राज्य (स्टेट) में किसी सत्ता-धारिणी संस्था (गवर्नमेंट) की आवश्यकता रहेगी और वह अपनी सत्ता के बलपर राज-काज करेगी। जबतक जनता को यह अनुभव होता रहेगा कि कोई बाहरी शक्ति हमपर अंकुश रख रही है तबतक राज्य के साथ वह एक-रस नही हो सकती और जबतक एक-रस न होगी तबतक जमीन का मालिक राज्य को बनाने मे सिवा सत्ताधारियों के लाभ के और सबका हित ही है। इससे मै तो इस नतीजे पर पहुंच रहा हूं कि अभी तो सैकडों बरसों तक समाज में किसी-न-किसी रूप में सरकार की आवश्यकता रहेगी और इसलिए जमीन का मालिक किसान को ही रहना चाहिए।

२. कृषि-संबंधी दुःख

कृषि-संबंधी दुःख भी कम नहीं है। अंग्रेजी सरकार लगान तो भरपेट लेती रही पर पैदावार बढ़ाने और उसमें सहायक होने का यथोचित ध्यान

नहीं रखती थी। अब हमारी सरकार भिन्न-भिन्न योजनाओं द्वारा उपज बढ़ाने की ओर पूरा ध्यान दे रही है। कृषि-विज्ञान के आचार्यों का कहना है कि भारत में भूमि की उर्वरा-शक्ति दिन-दिन कम होती जा रही है। गोबर, जो खाद के काम में लाया जाना चाहिए, ईधन के अभाव में, जलाने के काम आता है। सरकार को इसकी रोक का उपाय करना चाहिए। बाहर के देशों के साथ खुला व्यापार करने की नीति के कारण हिंदुस्तान का सारा अनाज दूसरे देशों को चला जाता है--किसान के घर में कुछ नहीं बचता, उसका जो मुनाफा होता है वह बीचवाले छोटे-बड़े व्यापारी चाट जाते हैं और बदले में विदेश से आनेवाली तरह-तरह की गैरजरूरी चीजें उसके घर में जाती हैं, जिससे पैसा बरबाद होता है। इसका फल यह हुआ कि दूसरे देशों में, जैसे इंगलैंड, जहां पहले अनाज के अभाव मे अकाल हुआ करते थे वहां तो विपुल अनाज पहुंच जाने से अकालों का होना असंभव हो गया; परंतु भारत मे अकालों की सख्या बढती जाती है। मेरी राय मे कृषि-सुधार के लिए इतनी बातें अवश्य होनी चाहिए :

(१) गोबर के कंडे बेचना बंद कराके उसका खाद खेतों में पहुंचाना चाहिए तथा और भी अच्छे खादों के द्वारा भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ानी चाहिए।

(२) किसानों के लिए यह नियम कर दिया जाय कि वे बीज और कम-से-कम डेढ साल तक चलने लायक अनाज और रुई अपने घर में रख-कर शेष अनाज बेचें।

(३) लगान की बढ़ी हुई दरें कम की जायं।

(४) कई तरह के अबवाब, सामाजिक कुप्रथाओं और दुर्व्यसनों तथा साहूकारों की लोभ-नीति के कारण किसान अकसर कर्जदार बने रहते थे। अब इसमें कुछ सुधार जरूर हुआ है। कोआपरेटिव सोसायटियों के जरिये उन्हें तरह-तरह के लाभ पहुंचाने का यत्न हो रहा है। फिर भी किसानों के हित को ही मद्देनजर रखकर सेवा-भाव से ऐसी सोसायटियों का काम चलना चाहिए और सेवा-परायण लोगों का समावेश उनमें होना चाहिए, न कि

पेट भरने की नीयत से जाने वाले लोगों का।

(५) गाय और बैलों के पालने के लिए काफी चरागाह रखे जायं; दूध-शालाओं और चर्मालयों के प्रश्न को हाथ में लिया जाय।

(६) फुरसत के वक्त कोई हाथ-धंधा उन्हें अवश्य मिलना चाहिए। यों रस्सी बनाना, गाड़ी, बैल, ऊंट किराये पर देना, ईंधन की लकडी बेचना, ऐसे ही काम किसान फुरसत के वक्त करता रहता है; परंतु इन सबसे बढ़-कर काम है रुई का कातना, पींजना और धुनकना। दोनों काम एक घर में होने से आमदनी भी काफी होती है और इसमें न बहुत रुपया लगाना पड़ता है, न बड़ी अक्ल की जरूरत होती है और लोग इन कामो मे परिचित भी हैं। एक किसान की औसत आमदनी ३०) रु० साल से अधिक नहीं है। इतनी ही आमदनी और, वह कताई-पिंजाई-धुनाई से भी बड़े मजे में कर सकता है। अब तो अंबर चर्खे के आविष्कार से उसकी आमदनी और भी ज्यादा हो सकती है।

३. शिक्षा

शिक्षा का तो पूरा अभाव किसानों में है। यों संस्कारिता और सदाचार में किसान शिक्षित कहलानेवाले आजकल के बहुतेरे लोगों से बढ़ जाते हैं, पर अक्षरज्ञान के अभाव से उन्हें कम कष्ट नही उठाना पड़ता है। दुनिया के रुख और हालात से, कानून तथा देश की हलचलों से नावाकिफ़ होने के कारण चीजों की खरीद-बिक्री, मामले-मुकदमे, धर्म-कर्म की ऊपरी बातों आदि में उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ता है। इसके लिए किसानों में प्रारंभिक शिक्षा का होना बहुत जरूरी है। साथ ही कृषि, पशुपालन, देहात की बीमारियों के इलाज और देश की साधारण राज्य-व्यवस्था, हिसाब-किताब आदि की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। किसान न केवल अपाहिज हैं, बल्कि शिक्षा के अभाव में अंधे भी हैं। हमारी सरकार का ध्यान इधर गया है, रात्रि-पाठशालाओं के द्वारा इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न होने लगा है।

४. स्वास्थ्य

स्वास्थ्य-संबंधी बातो से अनभिज्ञ होने के कारण गंदगी की बुराइयो को नही देख पाते। गांव के पास ही कूड़ा-करकट रखना, गाव की गलियो में ही टट्टी-पाखाना बैठ जाना, बीमारियों में इलाज का कोई प्रबंध न होना, देहात में मामूली बात देखी जाती है। अतएव एक ओर जहा स्वास्थ्य और बीमारियों का ज्ञान उन्हें कराना आवश्यक है वहा दूसरी ओर बीमारियों के इलाज का भी इंतजाम होना चाहिए। अंग्रेजी दवाएं (एलोपैथिक) वहा बहुत महगी पडती है—देशी या होम्योपैथिक दवाएं बहुत सस्ती पडती है और इन्हीका उपयोग होना चाहिए। ज्वर, फोड़े-फुसी, आख और पेट का दर्द, साप-बिच्छू का काटना, हाथ-पांव में चोट आ जाना, ये देहात की खास-खास बीमारिया है और हर बड़े गाव मे इनके लिए दवा का प्रबंध अवश्य होना चाहिए।

: ३ :

हमारे पाप

जिस कार्य से व्यक्ति और समाज को दु:ख पहुंचता है, उनकी हानि होती है, उसे पाप कहते है और जिस काम से उन्हें सुख मिलता है, उनका लाभ होता है, उसे पुण्य। जिस काम से केवल व्यक्ति की हानि होती है वह व्यक्तिगत पाप, जिससे समाज की हानि होती हो उसे सामाजिक पाप और जिससे राष्ट्र को नुकसान पहुंचता है वह राष्ट्रीय पाप है। पाप का फल अधोगति के सिवा दूसरा नही हो सकता। इसलिए पाप करने की स्वाधीनता मनुष्य को नही दी गई है। फिर भी व्यक्तिगत पाप करने में मनुष्य जितना स्वाधीन हो सकता है उतना सामाजिक पाप करने में नही, और जितना सामाजिक पाप करने में वह स्वतत्र समझा जा सकता है उतना राष्ट्रीय पाप करने में नही, क्योकि व्यक्तिगत पाप के फल से स्वयं उसकी

अपनी हानि होती है, लेकिन सामाजिक और राष्ट्रीय पाप से सारे समाज और राष्ट्र को हानि पहुंचती है। जैसे मैले कपड़े पहनना, या कच्ची रोटी खाना, व्यक्तिगत पाप है क्योंकि इससे जो बीमारी पैदा होती है उसका फल-प्रधानत: उस व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परंतु व्यभिचार एक सामाजिक पाप है, क्योंकि, इससे सारे समाज की जड खोखली होती है। इसी प्रकार विदेशी वस्तु का व्यवहार राष्ट्रीय पाप है, क्योंकि, इससे राष्ट्र में दुर्बलता आती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के बुरे कर्मो का फल अधिकाधिक लोगो को भोगना पड़ता हो त्यों-त्यों उनके बुरे कामों की स्वतत्रता कम होती जाती है। मनुष्य ने ही अनेक प्रकार के अनुभवों और व्यवहारो को देखकर अच्छाई और बुराई के अनेक नियम बना दिये हैं, जिन्हें हम पाप या पुण्य अथवा नीति और अनीति के नियम कहते हैं। ये इस उद्देश्य से बनाये गये हैं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हो, उन्हे सुख पहुंचे, वे पूर्णता को प्राप्त करें। इन नियमों की सबसे श्रेष्ठ कसौटी यह है कि मनुष्य खुद स्वतंत्र और सुखी रहे; परंतु दूसरे की स्वतंत्रता और सुख में उसके कारण कमी न हो। अर्थात् मनुष्य न केवल अपनी स्वतत्रता और सुख की रक्षा करे, बल्कि दूसरे की सुख-स्वतंत्रता की भी उतनी रक्षा करे, इसीका नाम है संयम। संयम स्वतत्रता का मूल है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी होता है वह उतना ही अधिक स्वतंत्र हो सकता है, क्योंकि वह जितना ही अधिक औरों के सुख, सुविधा और स्वतंत्रता का विचार रखेगा उतना ही दूसरे उसके सुखादि का खयाल रखेंगे और इससे उसकी स्वतंत्रता अपने-आप बढ़ जाती है। संयम-हीन स्वतंत्रता उच्छृङ्खलता और अंत को अत्याचार मे परिणत हो जाती है और उसका आगे चलकर परिणाम होता है यह कि मनुष्य को अपनी सारी स्वतंत्रता खो देनी पडती है।

स्वाधीनता में मनुष्य पाप कम करता है, पराधीनता मे अधिक। क्योंकि स्वाधीनता में मनुष्य का जीवन उतना आत्म-हीन नही होता, जितना पराधीनता में होता है। स्वाधीनता में भले-बुरे की जिम्मेदारी खुद उसी-पर होती है, पराधीनता में दूसरे पर। मनुष्य पाप तब करता है जब पुण्य

करते हुए उसे हानि होने लगती है। जब सच बोलने से हानि होती है, तो मनुष्य झूठ बोलकर लाभ उठाने की चेष्टा करता है। जब न्यायोचित साधनों द्वारा मनुष्य अपनी आकाक्षाओ की पूर्त्ति नही कर पाता, तब वह बुरे मार्ग का अनुसरण करता है। यदि किसी समाज में युवकों को कन्याएं न मिलती हों, विधवाओ को जबर्दस्ती विवाह से रोका जाता हो, तो वहा व्यभिचार फैलना स्वाभाविक होजाता है। जिस राज्य में कृत्रिम बंधनों द्वारा मनुष्य इस तरह जकड़ दिया गया है कि उसे सच बोलने तक में भय मालूम होने लगता है तब उसमें उस राज्य को उखाड़ फैंकने के भाव प्रबल होने लगते हैं। मनुष्य पाप दो कारणों से करता है--एक तो संयम का महत्व न समझने से, अर्थात् दूसरो की स्वाधीनता और सुख का खयाल न रखने से, और दूसरे अपनी स्वाधीनता के अपहरण से, अर्थात् अपने न्यायोचित अधिकारो के अनुसार बर्तने की सुविधा न रहने से। दोनों बातों का एक ही निष्कर्ष निकलता है कि स्वतंत्रता के अपहरण से मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। जिसकी स्वतंत्रता छीन ली गई है, वह भी पाप करने लगता है और जो स्वतंत्रता का अपहरण करता है, वह भी पापी हो जाता है। पीड़ित और पीड़क दोनो पापी होते हैं। पीडित भयभीत रहता है, इसलिए गुप्त पाप करता है। पीडक उद्धत होता है, इसलिए अत्याचारी बनकर विधान और कानून के नाम पर पाप को पुण्य का रूप देकर पाप करता है। पीड़ित की आत्मा दब-दबकर पाप करती है, पीडक खुल-खुलकर पाप करता है। पीड़ित एक समय के बाद जागरूक होता है और साहस एकत्र करके पीड़क के खिलाफ़ बग़ावत पर उतारू हो जाता है; पर पीड़क पीड़ित और पतित होने के पहले सहसा नही उठ पाता। पीडित पापी सहसा उठ सकता है; पीड़क पापी नही। अतः कहते हैं, पीड़क बनने से पीड़ित बनना कही अच्छा है। पर सच पूछिये तो पीड़क और पीड़ित दोनों बनना, या बने रहना, पाप है। पीड़ित बने रहकर मनुष्य खुद अपने प्रति पाप करता है, बल्कि, पीड़क को पीड़क बना रहने देकर, उसके पापों में सहायक होता है। इस दृष्टि से दुहरा पापी है। गुलामी सबसे बड़ा पाप है।

भारत दुनिया में सबसे बड़ा पापी था, क्योंकि वह सबसे बड़ा गुलाम था। दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता कि इतना बड़ा विशाल देश इतनी सदियों से गुलाम बना रहा हो और चारों तरफ़ से इतना जकड़ा हुआ हो कि कहीं से भी निस्तार की गुंजाइश न हो। बड़ों-बड़ों की अक़ल गुम हो रही थी। अब गुलामी तो नहीं रही फिर भी पाप का प्रश्न तो बना ही हुआ है। पाप की व्याख्या बदल गई हो—पर पाप तो पाप ही है। जब मिस मेयो ने हमारे कुछ पापों के नाम गिनाये तो हम बिगड़ पड़े और उसे कोसने लगे। 'अबलाओ का इन्साफ़' देखकर उस पर घृणा प्रकट करने लगे। पर जबतक उनमें लिखी आधी बातें भी सही हैं, और हम उन बुराइयों को दूर करने के लिए प्राण-पण से उद्योग नही करते, तबतक हम अपने पापों से कैसे छूट सकते हैं? अबलाओं के इन्साफ़ की बातों पर मुझे सहसा विश्वास नही हुआ, पर एक मित्र ने कहा—"ये सब बुराइयां मैं राजपूताने के किसी भी एक ही नगर में दिखा सकता हूं।" एक मित्र ने कहा—"उपाध्यायजी, आपने अभी राजपूताने के देहातों को नहीं देखा है। शहरों की बुराइयो से हम देहात का अंदाज़ नही लगा सकते।" यह लेख मैं एक देहात में बैठकर लिख रहा हूं, जोकि रेलवे-स्टेशन से बीस मील दूर है। इस तरफ़ के ब्राह्मण-वैश्यों के घर की कथाओं और लीलाओं को सुनता हूं, तो सिर चक्कर खाने लगता है। घर और कपड़ों की स्वच्छता तो मानो इनसे डरती है। इधर बारह-चौदह वर्ष के लड़कों की शादी करने का आम रिवाज है। लडकियों की उम्र लडकों से बहुधा बराबर या बड़ी अच्छी मानी जाती है। विधवाएं मानों गुडों और व्यभिचारियों की संपत्ति समझी जाती है। घर ही में अनर्थ होते देखे जाते हैं। पच्चीस फ़ीसदी विधवाएं भी साफ-पाक नहीं मानी जाती हैं, बाल-विधवाओं की संख्या अब भी कम नहीं हुई है। गर्भपात की बातें आएदिन कानों पर आती रहती है। अब तो यह पहले जैसा भीषण पाप भी नही माना जाता!

इसी गांव के संबंध की कुछ ऐसी बीभत्स घटनाएं मै जानता हूं, जिन्हें

देखकर मनुष्य का सिर नीचा हो जाता है और हिंदू-धर्म की छाती पर तो वे मृत्यु-प्रहार ही के समान हैं। पर उनसब बातों का उल्लेख करके में दूसरा 'अबलाओं का इन्साफ़' लिखना नही चाहता। जिसके आंखें, हृदय और बुद्धि है, वे ऐसी घटनाएं देखकर चुप नही बैठ सकते। जो लोग इनकी ओर आंखे मूदे हुए हैं उनसे मै कहूंगा कि इस तरह ठंडे दिल से अपना और अपनी जाति का सर्वनाश न करो। इन पापो की ज्वाला तुम्हें जड-मूल से भस्म कर देगी। जिन लोगों ने इन बुराइयो को नीति-अनीति के दायरे से उठाकर कुदरत के कानून के दायरे में ला रखा है, उनसे मै कहता हूं—कामांधता की वेदी पर मनुष्य-जाति के कई सद्गुणों और सद्भावों की आहुति क्यों करते हो? जो धीमे सुधारक हैं, उनसे कहना चाहता हूं कि बुराई यदि सचमुच बुराई है तो फिर उसे एकाएक निकाल डालने में हिच-किचाहट क्यों? परदा यदि बुराई है और परदे में यदि कई बुराइयां छिपी रहती है, तो घर के बड़े-बूढ़ों के लिहाज से उसे हम कबतक सहन करते चले जायं? जाति और राष्ट्र की बर्बादी की ओर हम देखें, या बड़े-बूढ़ो की नाराजगी की ओर? समष्टि के हित के सामने क्या हमें व्यक्ति की कल्पित प्रसन्नता को खो देने के लिए तैयार न रहना चाहिए। हमारी सहृदयता क्या तक़ाजा नही करती कि हम समाज की विधवाओ की रक्षा, सधवाओ के सतीत्व की रक्षा और नवयुवकों को ऐसी मानसिक यातनाओं से बचाने के लिए अपनी व्यक्तिगत असुविधाओ को ताक पर रखकर उनके लिए दौड़ पडे?

धनिको और रईसो में व्यभिचार का कारण है विषय-तृष्णा के कारणों की बहुलता और उसकी तृप्ति के साधनो की कमी; मध्यमवर्ग के लोगों की व्यभिचार-प्रवृत्ति का कारण है दरिद्रता। एक बडे राज्य के चीफ़ मेडि-कल आफ़ीसर ने उस दिन कहा कि आम लोगो के व्यभिचार के मूल कारण की खोज में जो मैं निकला तो पता लगा कि आमदनी की कमी और आवश्यकताओं की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापं'—दरिद्रता अनेक अनर्थो की जड़ होती है। भारतवर्ष मुसलमानों के

समय में चाहे पराधीन हो गया हो, पर दरिद्र नही हुआ था। लेकिन अंग्रेजी राज्य में तो सोलह आना पराधीन और बीस आने दरिद्र भी हो गया था। जिस देश के ग़रीब लोग गोबर में से अनाज चुनकर पेट पालने पर मजबूर होते है, उनकी दरिद्रता की करुण-कथा किस लेखनी से लिखें ? वहां यदि स्त्रियों को अपना सतीत्व चुराकर बेचना पडे तो कौन आश्चर्य की बात ? आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बुराइयों से हमारे दिल को जैसी चाहिए चोट नही पहुंचती। अपने सुख और आराम की चिंता या धुन में अपने पडोसी का करुण-क्रंदन हमारे कानों तक नही पहुंचता ! हम व्याह-शादियों में,अपने ऐश-आराम में,तथा मामले-मुकद्दमों में हजारों रुपया पानी की तरह बहा देंगे, पर ग़रीबों की ग़रीबी दूर करने के लिए, विधवाओ के धर्म की रक्षा के लिए खादी न पहनेंगे—खादी के लिए रुपया न खर्चेंगे। एक ओर धन-वैभव को ऐश-आराम में लगाकर हम अपने आस-पास विषय-भोग का और उसके फल-स्वरूप व्यभिचार का वायु-मंडल निर्माण करते है, और दूसरी ओर अपने पडोसियों को दरिद्र बनाकर या बना रहने देकर उन्हे व्यभिचार के लिए मजबूर करते है। इस तरह हम दुहेरे पापी बनते है।

जो अच्छा काम स्वेच्छापूर्वक किया जाता है वह भूषण होता है, और जो दूसरो के दबाव से किया जाता है वह दूषण की सीमा को पहुंच जाता है। यदि कोई अपनी खुशी से विवाह नही करता, तो इससे उसे सब तरह लाभ पहुंचता है। यदि कोई किसी के दबाव या संकोच से विवाह नही करता, तो उसमें छिपे-छिपे पाप करने की कुवृत्ति पैदा होने का भय रहता है। स्वेच्छा-पूर्वक किये गये पाप के प्रायश्चित से मनुष्य की आत्मा का विकास होता है। परतु बलपूर्वक दिये गये दंड से उसका तेजोनाश होकर आत्मा दब जाती है। इसी प्रकार जो दरिद्रता खुशी-खुशी प्राप्त की जाती है वह मनुष्य के लिए भूषण-रूप होती है; परिस्थिति से दबकर इच्छा के विरुद्ध जो दरिद्रता अख्तियार करनी पड़ती है वह मनुष्य के पतन का कारण होती है। महात्माजी, लोकमान्य, मालवीयजी, लालाजी, नेहरूजी, देशबंधु तथा उनके सैकड़ों अनुयायी, जिन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक दरिद्रता अंगीकार की, उनमें

तथा भारत के करोड़ो लोगों मे, जिन्हें ब्रिटेन की व्यापारिक लूटनीति और आसुरी साम्राज्यवादिता ने राह का भिखारी बना दिया है, ज़मीन-आसमान का अंतर है। सच्चा धनी वह है जिसने धन को ठोकर मार दी या धन को दीन-दुखियों की सेवा में लगाकर खुद निर्धन की तरह रहता है। वह तो धन का गुलाम है, जो धन को बटोर-बटोरकर अपने ही सुख-चैन में लगाता है। धन का दूसरा नाम है भय। जिसको निर्भय होना हो वह निर्धन बनना सीखे। जिसको तेजस्वी बनना हो, वह दरिद्रता का व्रत धारण करे। भारत का वैश्य-समुदाय आज इसीलिए दब्बू और कायर बना हुआ है कि उसे धन को बटोरकर रखने का असीम लोभ है। यूरोप के वैश्य, जो सेना और सत्ता की सहायता से तीस करोड भारतवासियों को पद-दलित करके उनके जड-मूल को मिटाने का पाप कमा रहे थे उसका कारण है उनका धन-लोभ। इसलिए श्री शंकराचार्य ने कहा है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।

परंतु धन का लोभ एक बात है, और मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ के लिए धन की पर्याप्तता दूसरी बात। दरिद्र उस मनुष्य को कहते है, जिसके पास अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्त्ति के योग्य धन या धन के साधन न हों। भारत इस अर्थ में आज कंगालों का घर बना हुआ है। आज यहां सोलहो आने दरिद्रनारायण का निवास है। लक्ष्मीनारायण की नहीं, अब यहा दरिद्रनारायण की पूजा होनी चाहिए।

इस इतने विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि हमारे सबसे बडे तीन पाप है—(१) दरिद्रता, (२) व्यभिचार और (३) पराधीनता। दरिद्रता से व्यभिचार फैलता है और पराधीनता दरिद्रता का मूल कारण है। व्यभिचार हमारा सामाजिक पाप है, दरिद्रता राष्ट्रीय पाप है, इस त्रिविध पाप की एकमात्र औषध है स्वाधीनता, पूर्ण अर्थ में स्वाधीनता। अभी हम अंगरेजी साम्राज्य से मुक्त हुए है, देश के भीतरी शत्रुओं से मुक्त या स्वाधीन नहीं हुए है।

: ४ :

सार्वजनिक और व्यक्तिगत संबंध

एक मित्र ने हाल ही में प्रश्न किया था कि सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत संबंधों की क्या मर्यादा रहनी चाहिए ? सार्वजनिक सेवक के दोष किस हद तक सहन करने योग्य है ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, इसलिए इसपर जरा गहराई से विचार कर लेना अच्छा है।

सार्वजनिक क्षेत्रों में व्यक्तियों से जो हमारे संबंध बंधते हैं, उनका मूल है हमारी सार्वजनिक सेवा की भावना। उसमें हम परस्पर-सहयोग द्वारा देश और समाज की सेवा करते हुए अपने-अपने जीवन को उच्च, पवित्र और बलिष्ठ बनाना चाहते हैं। जहां समान आदर्श, एक-सी विचार-दिशा मिल जाती है वही मित्रता और सख्य हो जाता है और वह सगे भाई-बहनो से भी ज्यादा प्रगाढ़ बन जाता है। ऐसी दशा में हम प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि दूसरे की नैतिक और आत्मिक उन्नति में सहायक हों और इस बात के लिए सर्वदा सतर्क और जाग्रत रहे कि हमारे अंदर कोई बुराई या गंदगी घुस तो नही रही है। जहा मित्रता और भाईचारा होता है वहा परस्पर विश्वास तो होना ही चाहिए। अविश्वास और संशय रखनेवाला आदमी नित्य मरता है, जबकि विश्वास रखनेवाला धोखा खाकर कभी-कभी मरता है। फिर भी यदि किसीसे कोई दोष या गलती हो जाय, तो उसे चुपचाप सहन कर लेना या उसकी तरफ़ से आखें मूद लेना किसी प्रकार उचित नही है। इसका सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि जिससे गलती या दोष हुआ हो उसे जाग्रत कर दिया जाय। ऐसा न करके दूसरों से कानाफूसी करना बुरा और बेजा है। ऐसे अवसरों पर दोष-पात्र का उपहास करना अपनी हीन-वृत्ति का परिचय देना है। हां, दोष यदि गंभीर हो तो उसकी सूचना संस्था या समाज के वरिष्ठ को अवश्य दे देनी चाहिए। यह निंदा नहीं है। द्वेष-भाव से यदि कोई बात ऐसे लोगों से कही जाय, जिनपर उस व्यक्ति या उसके कार्यों की कोई जिम्मेदारी या संबंध नही है, तो वह निंदा

कहलाती है।

अगर व्यक्ति अपना दोष स्वीकार कर लेता है और प्रायश्चित्त करके आगे के लिए ऐसा न होने देने का विश्वास दिला देता है तो फिर उससे पूर्ववत् सार्वजनिक संबंध रखा जा सकता है। परंतु इसमें दोषित व्यक्ति की वृत्ति देखनी होगी। दोष पहले-पहल ही हुआ है या अकसर होता रहता है यह भी देखना होगा। फिर जैसी स्थिति हो वैसा ही उसका मूल्य समझकर व्यवहार करना चाहिए। यदि वृत्ति ही दूषित हो तो फिर उसे गंभीर मानकर सार्वजनिक संबंध भी छोडा जा सकता है। अलबत्ते प्रेमपूर्वक व्यक्तिगत सेवा उसकी की जा सकती है, उसे बुराई से बचाने के उपाय सहानुभूति के साथ किये जा सकते हैं, हमें उससे घृणा भी न करनी चाहिए। पर सार्वजनिक संस्थाओं में उसका रहना हितकारी नही हो सकता। व्यक्ति की अपेक्षा संस्था और संस्था की अपेक्षा सिद्धात का महत्व सर्वदा ही अधिक रहना चाहिए। व्यक्ति जब संस्था और सिद्धात की जीवित प्रतिमूर्त्ति बन जाता है तब वह अपने-आप संस्था और सिद्धात के बराबर महत्व पा जाता है, वह सूर्य के सदृश तपता, जीवन देता और गंदगी और अपवित्रता को भस्म करता जाता है।

जब किसीके शरीर या मन में से कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है तब उसे दु:ख तो जरूर ही होगा, परंतु उससे घबराने की जरूरत नही। यदि उसकी वृत्ति में केवल सेवाभाव ही है, संयोगवश यह दोष हो गया है तो इस व्यवहार से उसकी गलतफहमी न होगी, वह इसके दूरवर्ती शुभ परिणाम को और इसमें छिपे हुए अपने आत्म-कल्याण को देख सकेगा। और यदि उस समय उसे इतना दर्शन न हुआ, तो भी वह अधिक सुख पायगा और पीछे हमें अवश्य आशीर्वाद देगा।

व्यक्ति का महत्व वहीतक है, जहांतक कि उससे सार्वजनिक सेवा ही होती है, और गंभीर बुराइयों का वह साधन नही बनता। यदि हमें सार्वजनिक सेवा ही प्रिय है तो हम इस विषय में गाफिल नही रह सकते।

: ५ :

ईश्वर किनका है ?

हिंदू-समाज के लिए कितनी बड़ी लज्जा की बात है कि हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश कराने के लिए महात्माजी-जैसी विश्व-विभूति को अपने प्राणों की बाज़ी लगा देने की तैयारी करनी पड़ी और संत विनोबा को चांटे खाने पडे। जिन्होंने ईश्वर को कुछ समझने का यत्न किया है, जो ईश्वर को मानव-जाति का ही नहीं, सारी सृष्टि का पिता समझते हैं, जो ईश्वर को दीनबंधु, पतित-पावन, करुणा-सिंधु, 'दीनन-दुःख-हरण देव' कहते है, वे किस मुह से यह कह सकते है कि ईश्वर के मंदिर में अकेले उच्चवर्ण के हिंदुओं को ही जाने का अधिकार है; अवर्ण, अछूत, दलित या दूरित कहे जानेवाले हिंदुओं को नही ? एक पिता का कोई पुत्र कैसे तो पीढ़ियों के लिए अपने घर में अछूत समझा जा सकता है और कैसे वह घर के देव-मंदिर में जाने से रोका जा सकता है ?

क्या कभी किसीने इस बात पर भी विचार किया है कि सच्चे हृदय से, व्याकुल हृदय से, परमात्मा के मदिर में कौन लोग जाते हैं ? जिसको किसी तरह का कोई कष्ट नही है, क्या उसे कभी गद्गद् कंठ से भगवान् के चरणों में सीस झुकाते हुए किसीने देखा है ? सच पूछा जाय तो भगवान् का मंदिर उन्हीं लोगों के लिए है, जो वास्तव में दुखी, दरिद्र, पीड़ित और पतित है। जिसके पास बहुत धन है उसका भगवान् धन ही होता है। जिसके पास सत्ता, राजैश्वर्य है उसका भगवान् बहुत करके ऐश्वर्य ही होता है। जिसको अपना उच्चता या ज्ञान का अभिमान है उसका भगवान् बहुधा अभिमान ही हुआ करता है। उसको सहसा भगवान् की ही आवश्यकता नही होती, फिर भगवान् के मंदिरों तक दौड़ने की बात तो दूर है। भगवान् की आवश्यकता तो वही लोग महसूस करते है, भगवान् के मंदिरों में जाने की आवश्यकता तो उन्ही लोगों के लिए है, जिनका संसार में कोई सहारा नहीं, न जिनके पास विद्या-बल है, न धन-बल है, न सत्ता-बल है

और न किसी प्रकार का ऐश्वर्य ही है। ईश्वर के प्रति सच्ची पुकार इन्ही आर्त्तो के हृदय से निकल सकती है। सुखी और संपन्न लोग भी ईश्वर के दया-दरबार में तभी सच्चे भाव से दौडते है, जब वे किसी प्रकार के दुःख, कष्ट, विपत्ति या संकट में पड जाते है। जरा हम अपनेको अपने दलित या अछूत कहलानेवाले भाइयों की अवस्था में रखकर उनके पीढ़ियों के दुःख, कठिनाइयों और असहायता की कल्पना तो करें, कभी कुछ घंटों के लिए मेहतरों के मुहल्लों में जाकर यह तो देखें कि क्या उनके बच्चे हमारे बच्चों ही की तरह खाते-पीते, पहनते-ओढते, गाते-खेलते और पढते-लिखते है ? क्या उनको उसी तरह खाने-पीने की, पढने-लिखने की और समाज में सब जगह प्रवेश पाने की सुविधा है, जोकि हम सबको प्राप्त है ? यदि नही तो क्या कभी हमने यह भी सोचा है कि हमी तो, हमारी ही बनाई समाज-व्यवस्था तो, इसका कारण नही है ? और क्या कभी इतना भी सोचा है, कि आखिर हमने पीढ़ियों से और हजारो वर्षो से इन भाइयों को इस नरक में क्यों डाल रखा है ? इन बेचारो ने हिंदू-समाज का ऐसा कौन-सा भयंकर अपराध किया कि जिसके लिए करोडों लोग कुछ दिन नही, कुछ साल नही, कुछ पीढ़ियों नही, हजारों वर्षो से सिर्फ बहिष्कृत ही नहीं, बल्कि 'अस्पृश्य' करार दिये जावें ? क्या उनका अपराध यह तो नही है कि हम मैला करते है और वे साफ करते है, हम गंदगी करते है और वे सफाई करते है ? यदि वे ऐसा न करे, तो जरा खयाल कीजिये, आपकी और आपके बाल-बच्चों की तंदुरुस्ती का क्या हाल होगा ? यदि वास्तव में यही उनका गुनाह है और यदि हमारा अत्याचार ही उसका दंड है, तो फिर क्यों न सब संगठित होकर इन कामो को छोड़ दें, और क्यो न अपनी इन जरूरतों को पूरी करने की जिम्मेदारी खुद हमी पर डाली जाय ? यदि आप न्यायी है, यदि आप अपने हित-चिंतक है तो या तो आपको अस्पृश्यता को मिटाकर 'अस्पृश्य' भाइयों को समाज में प्रेम का ही नही, आदर का स्थान देना होगा या आपको स्वयं अस्पृश्य बनना होगा, अर्थात् स्वयं अपनी गंदगी को साफ करने का भार अपने ऊपर लेना होगा। यदि हमारे दिमाग

में 'शुद्धि' नाम की कोई वस्तु है, हृदय में 'दर्द' नाम की कोई चीज है और विश्वास में 'ईश्वर' नाम का कोई भाव है तो हम अपने जीवन में किसीको सदा के लिए अस्पृश्य नही मान सकते।

'हिंदूधर्म 'सर्वात्मभाव' और 'सर्वभूत-हित'—इन दो सिद्धांतों पर रचा गया है। पहला सिद्धांत जगत् का परम सत्य है और दूसरा उसके पास पहुंचने का विधान है। इनको हम संक्षेप में सत्य और अहिंसा कहते हैं। इनके विपरीत कोई भी बात हिंदू-धर्म में स्थायी या त्रिकालाबाधित नहीं मानी जा सकती। शास्त्र इन्हीं सिद्धांतों की व्यवहार-विधियों को बताते हैं। कोई व्यवहार-विधि, किसी भी दशा में, मुख्य तत्व से बढकर नहीं मानी जा सकती। अस्पृश्यता यदि किसी समय किसी कारण-से किसी शास्त्र द्वारा अनुमोदित भी हो, तो भी उसे उपर्युक्त दो महान सिद्धातों से बढ़कर महत्ता किसी भी दशा में नही दी जा सकती। अस्पृश्यता को हमें सत्य और अहिंसा की रोशनी में जांचना होगा। इस कसौटी पर अस्पृश्यता किसी तरह नही टिक सकती। फिर मंदिर-प्रवेश-निषेध तो किसी भी धार्मिक सिद्धांत के नाम पर न्याय नही कहा जा सकता। इसके अलावा हिंदू-लोक-मत के इतने प्रबल विरोध में तो किसी हानिकर प्रथा पर चिपके रहना किसी प्रकार धर्म-संगत नही कहा जा सकता। कुछ पुरानी प्रथाओ और कानून को धर्म की आत्मा से बढ़कर महत्व देना धर्म से अपनेको दूर रखना है।

: ६ :

सार्वजनिक चर्चा से लाभ

एक बार मैने अखबारों में कुछ बातों की साफ-साफ चर्चा करना शुरू की थी तब कुछ खलबली-सी मची थी। यह जीवन का लक्षण है। लेकिन साथ ही कुछ मित्रों ने यह भी टीका की कि सार्वजनिक सेवकों की त्रुटियों की चर्चा सार्वजनिक रूप से करना ठीक नहीं है। काम करनेवाले योंही

कम हैं, तिसपर यदि उनका कृष्ण पक्ष लोगों के सामने आवेगा तो उनपर से लोगों की श्रद्धा हट जायगी । इस दलील से मैं बखूबी परिचित हूं। यही नहीं, बल्कि मैंने खुद यही दलील देकर दूसरे लोगों को सार्वजनिक आक्षेप करने से रोका है । परंतु इस विचार में मुझे कुछ भूल मालूम हुई है। व्यक्तिगत आक्षेप करना एक बात है और सार्वजनिक सेवकों के उन आचरणों, नीतियों, सिद्धांतों की चर्चा करना, जिनका सार्वजनिक जीवन पर असर पड़ता है, दूसरी बात है । व्यक्तिगत निंदा और आक्षेप अवश्य बुरी वस्तु है, वह कुरुचि और द्वेष की सूचक है। परंतु आचरणों, नीतियों, सिद्धांतों की तटस्थ भाव से और शिक्षा ग्रहण करने की वृत्ति से चर्चा करना सार्वजनिक जीवन को बनाने और लोकमत को शिक्षित करने का अच्छा साधन है । अभी तो मैं यह देखता हूं कि हम चार साथी भी खुलकर एक-दूसरे से चर्चा नही करते और यदि आपस में कर भी ली तो सर्वसाधारण में चर्चा करते हुए डरते हैं। मेरे कहने का यह मतलब नही है कि जिन बातों का सीधा संबंध सर्वसाधारण से न हो उनकी भी चर्चा हम सबके सामने करें ही, हालांकि मेरे अपने मत में तो सार्वजनिक कार्यकर्ता का जीवन खुली पुस्तक की तरह होना चाहिए कि कोई भी उसे सरलता से पढ़ ले और जो बात किसीको खटके उसकी वह अवश्य आलोचना करे; परंतु इसमें विवेक और मतभेद की गुजायश हो सकती है; लेकिन सार्वजनिक विषयों से संबंध रखनेवाली, सार्वजनिक जीवन पर सीधा असर डालनेवाली बातों की चर्चा करने में तो किसीका मत-भेद न होना चाहिए। किसी बात पर जब चारों ओर से रोशनी डाली जाती है तब उसका असली स्वरूप देखने, समझने का और अपने-आपको ठीकठाक करने का प्रत्येक को अवसर मिलता है । फिर हमारी कुरुचि, अनियंत्रितता और कुप्रवृत्ति पर यह एक निर्दोष कैद का भी काम देती है। जबतक हम यह समझते है कि हम मित्रों और साथियों में सुरक्षित हैं, तबतक हमारी कुरीतियों और कुप्रवृतियों के अनियंत्रित होने का बराबर अंदेशा रहता है, लेकिन जब हमको यह मालूम है कि हमारे प्रत्येक आचरण, नीति आदि की खुली चर्चा हमारे मित्रों

ग्रौर साथियों द्वारा भी हो सकती है, तो हम ग्रनियंत्रित होने से पहले हजार दफा सोचेंगे ।

हां, ऐसी चर्चा शिष्टता, गंभीरता, ग्रलिप्तता ग्रौर सद्भाव के साथ होनी चाहिए। हमारे देश की जनता बहुत पिछड़ी हुई है। उसमें सार्वजनिक सेवाग्रों ग्रौर कार्यों के प्रति ग्रनुराग बढ़ाना जरूरी है। उसके दिमाग़ को हर तरह का ग्रच्छा भोजन देना है। ऐसी चर्चा इस कमी को पूरा करेगी। कोई कटुता, उच्छृंखलता ग्रौर ग्रनियंत्रितता के साथ ऐसा करने लगे तो हम उसे ग्रवश्य रोकें। ऐसे लेखों, वक्तव्यों, भाषणों को स्थान न दें। सुरुचि का ग्रवश्य ध्यान रखें। हम समीक्षा, समालोचना को तो ग्रवश्य प्रोत्साहित करें, फिर वह चाहे वस्तु की हो, चाहे व्यक्ति की हो; लेकिन व्यक्तिगत ग्राक्रमण, कुत्सापूर्ण टिप्पणी, केवल दोष-दर्शन ग्रौर दोषारोपण से बचें ग्रौर बचावें। चूंकि ग्रबतक हम ऐसी नाजुक बातों से परहेज करते ग्राये हैं, इसलिए संभव है, नये खिलाड़ी की तरह, शुरू में हमसे इधर या उधर गलतियां हो जावें, तो इसकी परवा न करनी चाहिए। यदि भाव शुद्ध है तो ये ग़लतियां हमें ऊपर ही उठावेंगी। जबतक हम सर्वसाधारण के गुण-दोष-परीक्षण की शक्ति को न बढ़ावेंगे तबतक वे ग्रंधे बने रहेंगे। हमारा बल होने के बजाय बोझ ब े रहेंगे। उनकी ग्रांखें खोलना हमारा, उनके सेवकों का, एक ग्रावश्यक कर्त्तव्य है।

एक ग्रौर बात की ऐहतियात रखना जरूरी है। ऐसी चर्चा इस तरह होनी चाहिए कि जनता का बुद्धि-भेद न हो। हममें से हरेक की शक्ति देश के नव-निर्माण की दशा में ही खर्च हो। इसी एक लक्ष्य को सामने रखकर हम बोलें, लिखें, चलें ग्रौर दौड़ें। किसीके ग्राचरण, नीति-सिद्धांत का परीक्षण भी इसीलिए करें कि वह उस महान् उद्देश्य को सिद्ध करे। जीवन के निर्माण ग्रौर वृद्धि, प्रगति के लिए ग्रच्छी काट-छांट ग्रनिवार्य होती है। समीक्षा, समालोचना, इसी काट-छांट का काम देती है। यदि हम ऐसा नियम बनालें कि हम कभी किसीके खिलाफ कुछ न कहेंगे, किसीके संघर्ष में न ग्रावेंगे, किसीसे कुछ न कहेंगे, तो हम देखेंगे कि हमारी प्रगति रुक

गई है, हमारा तेज घट गया है, हम धीरे-धीरे मृत्यु की ओर जा रहे हैं। यदि हम सजीव हैं, बढ़ रहे हैं, चल रहे हैं तो हम उन प्रसंगों को नहीं टाल सकते, जब किसीके खिलाफ कहना पड़ेगा, किसीके संघर्ष में आना पड़ेगा, किसीसे बुरा बनने की जोखिम लेनी पड़ेगी। हां, हम यह नियम बना सकते हैं कि हम किसीका बुरा नहीं चाहेंगे, किसीका बुरा न करेंगे, मगर किसी की बुरी बात को बुरा न कहेंगे, उसकी समालोचना नहीं करेंगे, उसका विरोध नहीं करेंगे, ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं? सत्य का सहयोग और असत्य का विरोध, धर्म का पालन और अधर्म का प्रतिकार तो हमें करना ही होगा। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु की समालोचना करते हैं तो वाणी के क्षेत्र में सत्य और धर्म के सहयोग और असत्य एवं अधर्म के विरोध का ही प्रयत्न करते ह।

हां, वस्तु निर्जीव और व्यक्ति सजीव होता है। इसलिए व्यक्ति की चर्चा में सहृदयता की जरूरत रहती है। जहां सुधार की इच्छा है वहां सहानुभूति और सहृदयता ही दिखाई दे सकती है। ऊपरी कठोरता के अंदर भी सहृदयता की फल्गु बहती है। सर्जन जब फोड़े को चीरता है, तब उसके चाकू की तीखी धार में क्या रोगी के प्रति सहृदयता छिपी नहीं रहती? इस विवेचन से पाठक जान लेंगे कि सार्वजनिक चर्चा कितनी आवश्यक है।

: ७ :

एकता की समस्या

इस समय देश को भीतरी एकता की परमावश्यकता है। व्यक्तिशः मैं न एकता का भक्त हूं, न दलबंदी का। मैं भक्त हूं सेवा का, स्वतंत्रता का, रामराज्य का। सिद्धांत में मैं मानता हूं कि स्वतंत्रता बिना एकता टिकनी असंभव है। इसका भी मैं अनुभव करता हूं। पर समस्या हमारे सामने एकता के गुण-दोष की नहीं है, बल्कि यह है कि मौजूदा हालत में एकता कैसे साधी

जाय ? एकता पर जो जोर अभी दिया जा रहा है वह राष्ट्रीय एकता पर है, न कि राजनीतिक एकता पर। राष्ट्रीय एकता से मेरा अभिप्राय है भिन्न-भिन्न जातियों की एकता, और राजनीतिक एकता से मतलब है भिन्न-भिन्न राजनीतिक संस्थाओं या दलों की एकता। आज तो दोनों एकताएं कठिन हो रही हैं। महात्माजी के बलिदान ने सांप्रदायिकता की तो जड़ हिला दी है, परंतु अभी राष्ट्रीय एकता सिद्ध नही हुई। राजनीतिक एकता का तो मार्ग भी अभी दृष्टि-पथ में नही आ रहा है। कांग्रेस, कम्यूनिस्ट, हिंदू-सभाई, समाजवादी सबका एक संस्था या संगठन में समावेश होना असंभव है, क्योंकि इनमें दृष्टि-बिंदुओं का ही भेद है। सामाजिक या राजनीतिक आदर्श ही जुदा-जुदा हैं। इनमें एकता एक ही बात पर हो सकती है—सब दल के लोग यह निश्चय करें कि हम अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए गंदे, झूठे व हिंसात्मक साधनों से काम न लेंगे। केवल लोक-सेवा व लोकमत के बल पर अपनी रीति-नीति चलायेंगे। इससे अधिक उनके उद्देश्यों को बदलने का प्रयत्न करना चाहें तो यह एक हद तक लोगों के स्वभाव को बदलने जैसा है। मेरे खयाल में बुरी बात भिन्न-भिन्न दलों का रहना नही है, बल्कि है उनका परस्पर का द्वेष, ईर्ष्या या वैर-भाव रखना। यदि हम इस दुर्गुण से बच जायं तो फिर सब दल कांग्रेस के अंदर रहें तो क्या और सब बाहर रहें तो क्या ? उससे एक का बल किसी कदर घट नही सकता। बल कोरे विचारों और शब्दों में नही, कार्य में होता है। बल संख्या में नही, गुण में है। बल और उत्साह कोई बाहरी चीज नही, प्रस्ताव या निर्णय से आनेवाली चीज नही। जिनके पास अपना उत्साह और बल है वे आज भी अपना काम बिना ही हल्ला मचाये कर रहे हैं। जिनकी पूजी कम थी वे इधर-उधर हाथ-पैर मार रहे हैं। हमें चाहिए कि हम अपनी मंद बुद्धि या संकुचित दृष्टि को एकता के मार्ग में बाधक न होने दें। यदि हम मूल की तरफ बढ़ेंगे तो एकता पर पहुंच जायंगे। यदि विस्तार में भटकेंगे तो जिंदगीभर भटकते ही रहेंगे। पेड़ का मूल खोजेंगे तो किसी एक जगह पर उंगली रख सकेंगे; पेड़ के विस्तार को खोजेंगे तो अनंत में हाथ-पैर मारते रहेंगे। अतः यदि हमें राष्ट्रीय एकता

साधनी है तो हमें उसकी जड़ को मानवता में खोजना होगा, क्योंकि हम राष्ट्रीय होने से पहले मानवी हैं। हिंदू, मुसलमान, धनी, गरीब, सब बाद में हैं और ये भेद मनुष्यकृत हैं। ईश्वरी या प्राकृतिक भेद है मनुष्य व पशु का। इसी सिद्धांत पर यदि हम एकता की आवाज उठायंगे तो किसी दिन अवश्य सफल होंगे।

: ८ :

हिंदू-जाति और नंगे साधु

हिंदू-जाति धार्मिक सिद्धांतों की सूक्ष्मता में जितनी आगे बढ़ गई है, उतनी आज उनके गूढ़ रहस्य के अनुसार व्यवहार करने में पिछड़ी हुई है। यह हमारा परम दुर्भाग्य है। हिंदू तत्त्वज्ञानरूपी दैवी और अनमोल निधि परमात्मा ने अबतक हम जैसे कुपूतों के पास न जाने क्यों रख छोडी है? यदि समय-समय पर हिंदू-जाति में उच्च तत्त्वों और आदर्शो को अपने जीवन मे सजीव कर दिखानेवाले सत्पुरुष न उत्पन्न होते रहते तो हम आज कही के न रहे होते। यही कारण है, जो इस गई-गुजरी हालत में भी हमें अपनी बुनियाद पक्की नजर आ रही है। हमारे आध्यात्मिक सिद्धांत शुद्ध, अकाट्य और त्रिकालाबाधित होते हुए भी आज हमारा जीवन आध्यात्मिक या धार्मिक नहीं है। वह आडंबरों, अंधविश्वासों और मिथ्या-व्यवहारों का विडंबनापूर्ण जीवन हो रहा है। इसका कारण यह है कि सदियों से हमने धर्म में बाहरी नियमों और आचारों के पालन पर इतना अधिक ध्यान और जोर दिया है कि धर्म की आत्मा को गंवा और भुला बैठे हैं। साधुओं की नग्नता का ही उदाहरण लीजिये। एक धार्मिक हिंदू के लिए यह समझना कठिन नहीं है कि भिक्षु जब त्याग और अपरिग्रह की पराकाष्ठा को पहुंचने लगता है तब वस्त्र भी उसे अनावश्यक और भार-स्वरूप लगने लगते है और वह उनका त्याग कर देता है। पर कहां तो

यह आत्मिक विकास की उच्च विरागावस्था और कहां आजकल के साधुओं की नंगी जमातें, जिनका आत्मा की पवित्रता, मन की निर्मलता से कोई सरोकार हो सकता है ? जिसे बात-बात पर क्रोध आता हो, समय पर भोजन न मिले तो जो तिलामिला उठता हो, टके और कौड़ियों के अथवा मिष्टान्न के लिए नग्नता का—नंगों की जमात का—प्रदर्शन करता फिरता हो, उसे वही साधु और मुनि कहेगा, जिसकी बुद्धि जड़ता से मलीन हो गई है। जो वास्तविक विरक्ति के कारण नग्नता को प्राप्त हुए हैं, उन्हें क्या जरूरत है गांवों और नगरों में प्रवेश करने की और क्या जरूरत है वस्त्राभूपण-सज्जित सुंदरियों और युवतियों के समक्ष भोजन पाने की। सनातन धर्मी कहलानेवालों के यहां तो नंगों की एक खासी जमात—फौज ही है, जो अपनी उद्दंडता, असभ्यता, मुड़चिरेपन के लिए प्रसिद्ध है। जैनियों में भी नंगे साधुओं का प्रचलन है। एक मित्र ने इस कुप्रथा की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है और मुझे यह कहने में हिचकिचाहट नहीं है कि जिसका आचार दूषित है, जो विकारों के वश में है,उसे नग्न होने का कोई अधिकार नहीं है। और यदि रहता हो तो उसे शहर में व ग्राम में रहने का कोई अधिकार नहीं है। यदि वह आवे तो अवश्य उसका बहिष्कार होना चाहिए। जो लोग अज्ञान सेवा, लोक-लाज से ऐसे साधुओं को पूजते हैं वे धर्म की विडंबना करते हैं और अपना तथा अपने कुटुबियों के पतन का मार्ग निष्कण्टक करते हैं। अकेला निर्विकार व्यक्ति ही नग्नता को सुशोभित व सार्थक कर सकता है, परंतु ऐसे उच्च कोटि के महापुरुष कितने मिलेंगे।

: ६ :

विवाद-युग

भारत की राजनीतिक प्रगति में वर्तमान काल को हम विवाद-युग भी कह सकते हैं। आएदिन एक-न-एक नया विवाद खड़ा होता है और उसे

सुलझाने में आला दिमागों को थक जाना पड़ता है। नये-नये वादों की, प्रणालियों की, दलों की, भरमार हो रही है। और उनके विवाद खत्म ही नहीं होते। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी इनकी कमी नही है। धार्मिक जगत तो मानो विवादों का घर ही है। पाकिस्तान और हिंदुस्तान--हिंदुओं और मुसलमानों का सबसे बड़ा विवाद तो वैतरिणी की तरह खून की धारा बहा ही चुका है और अब भी उसका अंदेशा बना हुआ है। जब इस दुःखद स्थिति के मूल कारण की ओर दृष्टि जाती है तो बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमें बातें करने और नये विवादों को खड़ा करने का जितना शौक है उतना काम करने की उमंग नहीं है। इसमें अधिकांश लोग तो जरूर ऐसे हैं जो बातें करने और परस्पर बुद्धि लड़ाने में प्रवीण हैं, और यही उनके किये हो सकता है; पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सचमुच काम करना चाहते हैं, काम की व्याकुलता और अधीरता ही उन्हें ऐसे विवादो में, खीच लाती है। पर मुझे कहना होगा कि जबतक वे अपनी अधीरता और उतावली में नई-नई बौद्धिक समस्याएं खड़ी करते रहेंगे और विवाद में पड़ते रहेंगे जबतक वास्तविक काम उनसे दूर भागता जायगा। एक संस्था बना लेना, उसके नियम-उप-नियम बना लेना, अथवा बढ़-बढ़कर गरमा-गरम बात की घात में लगे रहनेवाले देश-भक्तों को उसमें एकत्र कर लेना, कोई भारी काम नहीं है। जबतक जनता के संगठन का ग्रामों में सोये बल को संग्रह और पुष्ट करने का काम नहीं उठाया जाता और उसमें बलिदान के उत्सुक हमारे युवक बंधु कूद नहीं पड़ते तबतक इन विवादों का अंत होना कठिन है और न तबतक हमारे नये-नये और बड़े-बड़े नामों में कोई स्थायी प्रभाव ही आ सकता है। चाहे हम शासन में हों, चाहे संगठन में, चाहे और कहीं, हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए काम, ठोस काम, निर्माण-काम, विवाद और बातें नही। हम भिन्न-भिन्न वादों, नामों और शब्दों की खीचातानी में क्यों अपना अमूल्य समय, शक्ति और रुपया खर्च करें? क्यों न असली चीज़ को प्राप्त करने के लिए आवश्यक बल और संगठन पर अपनी सारी शक्ति केंद्रित कर दें? जिसके

पास कार्य का बल होता है, वह शब्दों और नामों के विवाद में नहीं पड़ता। उसका वह बल अभीष्ट वस्तु को खींचकर सामने ले आता है और लोग कहते और मानते हैं--यह एक काम का आदमी है, इसकी बात सुनो। परमात्मा इस अभागे देश में ऐमे काम के हजारों लाल पैदा करे!

: १० :

मालिक और मज़दूर

मालिक और मजदूर की समस्या देश में अपना रूप बदलती और सम्भवतः जटिल होती जा रही है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि जबतक देश में बड़े कारखाने हैं, या उनकी आवश्यकता रहेगी, तबतक मालिक और मज़दूर भी किसी-न-किसी रूप में रहे बिना नही रह सकते और जबतक इन दो दलों का रहना अनिवार्य है, तबतक यह भी मानी हुई बात है कि उनका आपस में संबंध सब तरह अच्छा रहना भी परमावश्यक है--इसके बिना न कारखाना ही एक मिनट अच्छी तरह चल सकता है, न देश के लिए आवश्यक उत्पादन ही बढ़ सकता है--इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि मालिक खुद-ब-खुद मज़दूरों के हितों पर, अपने हित से अधिक, ध्यान रखें, अपने मुनाफ़े से अधिक ध्यान उनके लाभ और सुख का रखें। इससे मज़दूरों में अपने-आप कार्य-दक्षता और ज़िम्मेदारी का तथा कारखाने और मालिकों के प्रति प्रेम का भाव पैदा हुए और बढ़े बिना नहीं रह सकेगा। पर इतना होते हुए भी उनका आपस में समय-समय पर झगड़ा और टक्कर होना संभवनीय है, क्योंकि यह तो मज़दूर का, गरीबों का युग है। अब कहीं जाकर परमात्मा ने उनकी कुछ सुनी है, तो वे अपना जोर बनाये बिना रहने के नहीं। इधर मालिक भी सभी इतने देशभक्त, सहृदय और दूर-दर्शी नहीं है कि समय को पहचानकर आगे बढ़ जायं। ऐसी अवस्था में आपस के झगड़ों का निबटारा करने के लिए एक पंचायत बना लेनी

चाहिए। संघ तथा प्रांतीय सरकारों ने भी सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर पंचायत या अदालतें बना दी हैं। पर सबसे अच्छी बात तो यह है कि मालिक और मज़दूर मिलकर अपने प्रतिनिधियों की एक पंचायत बनावें। वह अधिक स्थायी और दोनों के लिए कल्याणकर साबित होगी, क्योंकि हमारी अपनी सरकार होने पर भी सरकार आखिर सरकार ही है, उसे सत्ताबल या दंड-बल से काम लेना पड़ता है और जहां दंड-बल से काम लिया जाता हो, वहां फैसला जल्दी हो भी जाय, तो भी दोनों पक्षों में सद्भावना नहीं बढ़ सकती। इसी तरह मज़दूरों का संगठन भी महज़ राजनीतिक आंदोलन के लिए करना अथवा उन्हें उसके निमित्त भड़काते रहना भी उचित नहीं है। मज़दूरों को राजनीति में भाग लेना हो तो वे कांग्रेस या दूसरे संगठनों में शरीक हो सकते हैं। मज़दूर-संघ तो सिर्फ उनके मालिकों के संबंधों तक ही सीमित रहना चाहिए। मालिकों में जैसे कई महास्वार्थी और शायलाक हैं वहां मज़दूरों के नेताओं में भी स्वार्थ-साधु और अयोग्य पुरुष न हों सो बात नहीं। परंतु इसमें भी कोई शक नहीं है कि सबल और निर्बल के मुकाबले में, धनी और निर्धन के मुकाबले में, सबल और धनी के ही पास दूसरे को दबाने के साधन विपुल होते हैं और दोनों के झगड़े बढ़ाने की अवस्था में ज्यादा दोषी वही समुदाय माना जाता है, जो धन-बल और विद्या-बल में बढ़ा-चढ़ा हो।

अब तो सरकार हमारी अपनी है, जोकि मज़दूरों के हितों और अधिकारों की रक्षक ही है। वह दिन भी नजदीक समझना चाहिए जबकि मज़दूरों व किसानों की सरकार बन जाय। इस देश में ८० फीसदी से ज्यादा किसान-मज़दूर हैं, अतः जो भी जनतंत्री सरकार बनेगी, उसमें उन्हींके प्रतिनिधियों की प्रधानता रहेगी। फिर भी सत्ता-बल की अपेक्षा सद्भावना का बल अधिक श्रेष्ठ और स्थायी है, यह बात हमें नजरअंदाज न करनी चाहिए।

: ११ :

दलबंदियों का मूल

यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि सभी जगह कार्यकर्त्ता आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। हमारे यहां तो जितने लोग हैं उतने दल हैं। एक-दूसरे का सहायक या पूरक नहीं, विरोधी है। यों तो ये तथा दूसरी बुराइयां प्रायः सभी जगह पाई जाती हैं, फिर भी यह बात नही कि देश के नेता और कार्य-कर्त्ता इन खराबियों को देखते या महसूस न करते हों और सोच-विचार-कर इनको दूर करने का उपाय भी न करते हों, क्योंकि जो लोग प्रत्यक्ष काम करते हैं और जिन्हें महज काम की ही धुन है, उन्हें ये खराबियां और कठिनाइयां ज्यादा दिन तक पुसा नहीं सकती, या तो उनको उनपर हावी हो जाना पड़ता है, या थककर किनारे बैठ जाना पड़ता है। फिर भी समय-समय पर इनके मूल कारणों को समझने और उनके इलाज सोचने की जरूरत रहती है।

मेरा अनुभव है कि जहा गंदी दलबंदी और लड़ाई-झगड़े ज्यादा पाये जाते हैं और सुलझाने पर भी बात उलझती ही रहती है, वहां अवश्य सिद्धांत और नीति-विषयक प्रश्न नहीं रहता। स्वभाव-दोष या व्यक्तिगत द्वेष रहता है। सिद्धात और नीति-संबंधी मतभेद जहां हो वहां विरोध तो होता है और वह समझ में भी आ सकता है, परंतु उसमें गंदगी और व्यक्तियों को गिराने और उनके पीछे पड़ जाने का प्रयत्न नहीं रहता है। असहयोग की वृत्ति जरूर रहती है। यदि मनुष्य की नीयत साफ है तो स्वभावगत दोष बरदाश्त किये ही छुटकारा है। मेरी समझ से खराबियों का मूल कारण कुछ भी हो, उनके दूर करने की जिम्मेदारी समाज या संस्था के उन लोगों पर ज्यादा है, जो ज्यादा समझदार, जिम्मेदार और अपने क्षेत्र में ऊंचे दर्जे के हैं, साधारण लोगों की अपेक्षा कार्यकर्त्ताओं की और कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा नेताओं की जिम्मेदारी अधिक है।

व्यक्तिगत दोष, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से उत्पन्न होता है। काम,

संस्था, समाज या देश-हित से अधिक महत्व जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देने लगता है, तब उस व्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयां और विघ्न-बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं और उनको मिटाने और लड़ने-झगड़ने में ही बहुत समय खर्च होता है व होता रहता है। आखिर में यदि महत्वाकांक्षी बहुत प्रबल हुआ तो 'रावण' बनने लगता है और नही तो नंगा होकर अपनी नाक कटाकर दूसरों का अपशगुन करता रहता है। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा खुद उस व्यक्ति और संस्था या समाज दोनों के ही शत्रु का काम करती है। अतः हरेक कार्यकर्त्ता को, जिसे सचमुच देशसेवा ही प्रिय है, इस भूत से सदैव बचते रहना चाहिए। यह भूत हमको कई बार इस तरह गुपचुप पछाड़ देता है और हमारे दिमाग को इतना बस में कर लेता है कि हमें अपनी गलत इच्छाएं भी नीति, आदर्श और सिद्धांत के अनुकूल दीखने लगती हैं या जान-बूझकर हमें उन्हें उनका जामा पहनाने की प्रवृत्ति होने लगती है। इसमें कोई दूसरे का काज़ी न तो बन सकता है और न बनना ही चाहिए। हरेक को अपनी-अपनी छाती पर हाथ रखकर देखना चाहिए। यदि वह ऐसा नही करेगा तो उसका पतन और उस अंश तक संस्था या समाज की हानि निश्चित है।

कई बार हम दूसरों के नापने का गज बड़ा और अपनेको नापने का गज असावधानी या स्वभाववश छोटा बना लेते हैं। वास्तव में होना चाहिए इसके विपरीत। जितनी कडाई हम अपने साथ रख सकते है, जितनी आलोचना हम अपनी कर सकते है, उससे अधिक कड़ाई और आलोचना हम दूसरों की करेंगे तो जरूर ही हमारा प्रभाव कम पड़ेगा। हम अप्रिय हो जायंगे और साथ के ही लोग हमारे विरोधी बन जायंगे।

जबसे हम आज़ाद हो गये हैं तबसे तो सभी जगह एक नई कठिनाई अनुभव की जा रही है, जिससे हर राजनीतिक संगठन और संस्था में नित-नये झगड़े और संघर्ष पैदा हो गये हैं। जैसे-जैसे राजनीतिक सत्ता लोगों के हाथ में आ रही है, वैसे-वैसे स्वार्थी, सत्ता-लोलुप, महत्वाकांक्षी लोग संस्थाओं में घुसने और उनपर कब्जा करने के लिए उखाड़-पछाड़ करते नजर आते

हैं। इन दलों में अक्सर वे लोग भी शामिल हो जाते हैं, जो किसी-न-किसी कारण से असंतुष्ट और नाराज रहते हैं और आपको टांग पकड़कर घसीटने की फिराक में रहते हैं। इस नई लहर में जो सच्चे उत्साही लोग हैं, उनका भी झगड़ा दूसरों से खासकर पुराने कार्यकर्त्ताओं और नेताओं से इसलिए हो जाता है कि अनुभव की कमी, अपने किताबी ज्ञान और जानकारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा और अभिमान के कारण, वे पुरानों के अनुभव और साधना की कीमत कम आंकते हैं। फिर राजनीतिक जागृति बिजली की गति से हो जाने के कारण थोड़े ही प्रचार और आंदोलन से लोग उनके पास इकट्ठे होने लग जाते हैं, अतः वे अपनेको सफल, प्रभावशाली और नेता मानने लगते हैं और जिन्होंने वर्षो त्याग, सेवा और कष्ट सहने से अपनी रचनात्मक शक्तियों और कामों द्वारा अपना स्थान और प्रभाव बनाया है, उनका महत्व नहीं समझ पाते। इधर वे जनता को उकसा तो जल्दी लेते हैं, परंतु उनके उभाड को संभाल नही पाते। इससे वे समस्याएं और उलझनें तो खडी कर देते हैं, परंतु उन्हें सुलझाने का भार आता है पुराने और मंजे हुए लोगों पर। फिर भी नये लोग सस्ती पद-प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहते हैं, इससे पुराने लोगों के दिमाग पर बराबर तनाव रहता है और वे एक किस्म की परेशानी अनुभव करने लगते हैं, जिसके दो तरह के नतीजे होते हैं। जो लड़ाकू मनोवृत्ति के होते हैं, वे तो डंडा लेकर उनके पीछे पड जाते हैं और जहां हम किसीसे उलझ गये तो फिर कंबल के भरोसे रीछ से उलझ जानेवाली गति होती है। जो सात्विक मनोवृत्ति के होते हैं, वे या तो भागकर किनाराकशी कर लेते हैं, या दूरदर्शिता से काम लेकर मध्य-मार्ग निकाल लेते हैं, जिससे उनके अनुभव और साधना का लाभ भी नये कार्यकर्त्ताओं को मिल जाता है। सदैव झगडों में उलझते रहने से तो यह कही अच्छा है कि हम अपने अभीष्ट काम में ही व्यस्त रहें। इससे हम काम और सद्वृत्ति दोनों का अच्छा नमूना पेश करेंगे।

: १२ :

सिद्धांत नहीं, स्वभाव

देश में एक ऐसा दल है, जो अपनेको गांधीजी की रीति-नीति से सहमत नही कर पाता है। देश को विषम स्थिति से बचाने के लिए वह समय-समय पर गांधीजी के सामने सिर झुकाकर इस आक्षेप का खंडन कर देता है कि नवयुवक गैरजिम्मेदार और जोशीले होते है। फिर भी यह स्पष्ट है कि वे गाधीजी के साथ अपनेको मिला नही पाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि गाधीजी के साथ उनका यह फासला सिद्धात की वजह से है? हमने इसपर खुद भी विचार किया और कुछ विचारशील नवयुवकों के प्रतिनिधियों से भी बहस की, तो इस नतीजे पर पहुचे कि उनके और गाधीजी के सामाजिक आदर्श और सिद्धांत मे कुछ कहने लायक भेद नही है। कुछ अंश मे साधन और अधिकांश में स्वभाव इस भेद का कारण है। नवयुवक दल के लोग अक्सर समाजवादी, साम्यवादी या अराजक इन तीन आदर्शों की ओर झुकाव रखनेवाले पाये जाते है। यों तो तीनों अंतिम आदर्श में एक है, अर्थात् समाज में किसी प्रकार की सरकार यानी शासन-सत्ता नहीं रखना चाहिए, बहुत-से-बहुत एक व्यवस्थापक-मंडल रहे। समाजवादी इस स्थिति को धीरे-धीरे, साम्यवादी एकाएक पहुंचना चाहते है। हिंदुस्तान में गुप्त संगठन और बम तथा पिस्तौल द्वारा स्वराज्य पानेवालों का नाम 'अराजक' रख दिया गया है। परंतु वास्तव में 'अराजक' उसे कहते है, जो समाज में किसी भी किस्म की शासन-व्यवस्था को न चाहता हो। गांधीजी के आश्रम का जिन्होंने गहराई के साथ अध्ययन किया है, उनके 'रामराज्य' 'स्वराज्य', 'जनता का राज्य', 'अहिंसक राज्य' इन शब्दों की व्याख्या का जिन्होंने बारीकी के साथ विचार किया है, वे तुरंत ही यह जान सकते हैं कि आदर्श में गांधीजी और वे एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। भिन्न-भिन्न शब्द सिर्फ इसी बात के सूचक हैं कि ये लोग उसके एक-एक विशेष पहलू पर जोर देते हैं। समाजवादी इस बात पर जोर देता है कि सबका दर्जा

और अधिकार समान हो, साम्यवादी इस बात पर जोर देता है कि समाज को हम कुटुंब मानकर चलें, अराजक इस बात पर जोर देता है कि कोई शासन-संस्था न रहे, और गांधीजी इस बात पर जोर देते हैं कि भलमनसाहत और न्याय का राज्य हो। चाहते ये सब हैं कि समाज में कोई ऐसी सत्ता न रहे, जो उसे उसकी इच्छा के खिलाफ दबाकर रखे और उसपर हुकूमत करे। सब चाहते हैं कि समाज भीतर से ही अपना इस तरह विकास या सुधार करे, जिससे किसी बाहरी नियंत्रण की जरूरत ही न रह जाय। भिन्न-भिन्न पहलू पर भिन्न-भिन्न लोग जो जोर देते हैं वह भी निरर्थक नहीं है। वह उनके देश और समाज की विशेषता, सभ्यता या परंपरा की तरफ इशारा करती है। असली चीज के रहते हुए भी समाज और देश की परंपरा और संस्कार, तत्कालीन अवस्था और आवश्यकता उसके अंग-विशेष पर ज्यादा जोर देना पड़ता है, या उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है। गांधीजी यदि रूस में और लेनिन यदि हिंदुस्तान में पैदा हुए होते तो दोनों के विचार और कार्य उन-उन देशों की परंपरा और आवश्यकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। इसलिए जितने भी ये सामाजिक आदर्श में बहुत-कुछ साम्य रखनेवाले समुदाय हैं, उन्हें चाहिए कि वे एक-दूसरे के छोटे-बड़े अंगों की भिन्नता की खूबी और आवश्यकता को समझें, उनकी कद्र करें और अपने अज्ञान तथा नासमझी के कारण अच्छे को बुरा और सीधे को उलटा समझने की गलती न करें।

पूर्वोक्त चारों मत या पंथ के लोग इस बात को मानते हैं कि समाज में से सरकार या शासक-मंडल तभी उखड़ सकता है, जब समाज में से हिंसावृत्ति हट जाय और परस्पर प्रेम तथा सहयोग फैल जाय। लेकिन गांधीजी को छोड़कर पश्चिम के सभी पंथ बीच की अवस्थाओं में हिंसा, पशुबल या शस्त्र-बल के बिना दूसरा रास्ता नहीं देख सके हैं। इसका कारण यही है कि पश्चिमी देशों में सात्विकता की परंपरा नहीं चली आई है और प्राकृतिक कारणों से जीवन-संघर्ष इतना प्रबल है कि उन्हें अहिंसा की ऊंची और मंगल-भावना व्यावहारिक प्रतीत नहीं हो सकती। इसके विपरीत

भारत में एक तो सात्विकता के प्रबल संस्कार युगों से चले आ रहे हैं, और अब तो, हिंसा-विरोधी दल भी संगठित हो गया है। यहां के दूरदर्शी और आदर्शवादी नेता को हिंसा के बल पर समाज को उठाने और बनाने का खयाल सूझ ही नही सकता था। अबतक के अहिंसा के सामुदायिक प्रयोगों ने हिंदुस्तान को ही नहीं, सारी दुनिया को यह दिखा दिया कि अहिंसा केवल अच्छा और ऊंचा ही हथियार नही, बल्कि अमली भी है। आम भी है और सो भी थोड़े समय, थोड़े रुपये, थोड़ी शक्ति, थोड़ी कुरबानी से बहुत ज्यादा फल देनेवाला और दोनों पक्षवालों को फायदा पहुंचाने और ऊंचा उठानेवाला है। इसका फल पश्चिमी देशों में भी यह हुए बिना न रहेगा कि बीच की अवस्था में हिंसा को जरूरी माननेवाले समाजोद्धारक भी हिंसा को अपने जीवन, कार्यक्रम और समाज से निकालने का प्रयत्न करेंगे। भारत में तो जिन-जिन जिम्मेदार, सच्चे और लगनवाले समाजवादी और साम्यवादियों से हम मिले हैं, उन्होंने मुक्त-कंठ से इस बात को स्वीकार किया है कि हम अब पहले से अधिक अहिंसा के मतलब और महत्व को समझने लगे हैं। ऐसी दशा में हमारे वे मित्र साम्यवाद या समाजवाद के लिए हिंसा या शस्त्र को आवश्यक मानते हैं, या जो नवयुवकों को रिझाने के लिए हिंसा या हथियार या बम-पिस्तौल के नामों का समय-समय पर प्रयोग करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पिछले वर्षों के महान् प्रयोग से लाभ उठावें।

पर जिन-जिन साम्यवादी या समाजवादी मित्रों ने अहिंसा के महत्व और मतलब को समझ लिया है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे वर्गयुद्ध संबंधी अपने विचारों को अहिंसा की रोशनी में फिर से देखें। अहिंसावादी व्यक्ति का द्वेष और नाश नहीं चाहता, प्रणाली का विरोध और नाश करता है। द्वेष और घृणा ये हिंसा के बीज हैं। इनको कायम रखकर, पानी पिलाकर, हम कर्म और आचरण में अधिक समय तक अहिंसात्मक नहीं बने रह सकते। यदि इस विचारधारा में कोई दोष नहीं है तो फिर उन्हें वर्ग-युद्ध-संबंधी अपनी नीति में स्पष्ट रूप से भूल दिखाई दिये बिना न रहेगी। फलतः

वे साम्राज्यवादियों और पूंजीवादियों के खिलाफ युद्ध ठानने के बदले साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को तोड़ने में अपनी सारी शक्ति लगायेंगे। जो लोग साम्राज्यवाद और पूंजीवाद से आज प्रेम कर रहे हैं, उनसे चिपके हुए हैं, वे या तो स्वार्थवश ऐसा कर रहे हैं या अज्ञानवश। दोनों को यदि उनमें से हटाना है तो वे उनके प्रति द्वेष और घृणा फैलाकर नहीं, बल्कि उनके दिमाग को समझाकर और दिल को बदलकर ही ऐसा कर सकते हैं। इन दोनों विधियों का नाम ही अहिंसा है।

यहांतक हमने देखा कि सिद्धांत या आदर्श में तो दोनों विचारवालों में कोई खास अंतर नहीं है। साधन अर्थात् हिंसा और अहिंसा का भी भेद भारत से मिटता जा रहा है। तब फिर स्वभाव ही एक ऐसी चीज रह जाती है, जिससे ये दोनों प्रकार के लोग एक-दूसरे में घुल-मिल नहीं रहे हैं। पर यदि हम दोनों मनोवृत्तियोंवाले इस असलियत को समझ लें कि यह वास्तव में स्वभाव का भेद है, अवस्था का भेद है, जोश और विवेक का भेद है, तो फिर दोनों के आपसी और सार्वजनिक संबंधों में ग़लतफ़हमी और फर्क नहीं रह सकता। व्यक्तिगत आक्षेप, निंदा, शक और अविश्वास—ये तभी रह और पनप सकते हैं, जब हम एक-दूसरे को और एक-दूसरे के विचारों को सहानुभूति और सद्भाव के साथ समझने से इंकार कर दें। अगर हमें एक-दूसरे को समझाना और अपने मत का कायल करना है, तो हम उसके व्यक्तित्व पर हमला करके, उसकी बुराई करके, नहीं कर सकते। इसमें भी अहिंसा की उपयोगिता और आवश्यकता सब तरह सिद्ध होती है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जो अपने जीवन में अहिंसा का जितना ही अधिक पालन करेगा उतना ही अधिक वह दूसरे के दिल और दिमाग़ को बदल सकेगा। इसमें जितनी कमी रहेगी उतनी हमारे अंदर अहिंसा की कमी समझना चाहिए।

: १३ :

मजहबी राज या जनतंत्र

'पाकिस्तान' का नारा मजहब के आधार पर उठाया गया था। हम उसे बुरा कहा व विरोध किया, क्योंकि हम जन-तंत्र को सही मानते हैं। दुर्भाग्यवश हमें 'पाकिस्तान' मंजूर करना पड़ा—इसका मतलब यह तो हरगिज नहीं हो सकता कि हमने मजहबी राज के उसूल को मान लिया व जनतंत्र के सिद्धांत को छोड़ दिया। फिर हम देखते हैं कि कई जगह पाकिस्तान का हवाला देकर हिंद में मजहबी आधार पर 'हिंदू-राज्य' बनाने की आवाज उठी और अब भी उठती रहती है। इसके माने यह हुए कि पाकिस्तान के गलत नारे को हम हिंदू भी अपनालें। दूसरे अर्थों में जिन्नासाहब को अपना नेता मान लें। हिंदुओं ने इतिहास में आजतक मजहबी राज कायम करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने धर्म-राज्य या राम-राज्य पर जोर दिया है, जिसके माने है सबमें एक आत्मा को मानकर, मानवता के, दूसरे शब्दों में, न्याय के आधार पर, राज-काज चलाया जाय। एक मजहब या सम्प्रदाय, जिसे गलती से कई बार 'धर्म' भी कह दिया जाता है, उसके आधार पर राजव्यवस्था खड़ी करना हिंदू-नेताओं ने सदैव अनुचित समझा है और यही कारण है कि भारतवर्ष में अनेक मजहबों—धर्म-संप्रदायों का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। यह भारत का अद्भुत उदारता, सहनशीलता का प्रमाण है और इसीके बल पर उसकी अखंडता अबतक कायम रही है। यदि अब हम इसके विपरीत मजहबी राज कायम करने की कोशिश करते हैं तो फिर से अखंड हिंदुस्तान का स्वप्न देखना छोड़ देना चाहिए।

फिर आज की दुनिया का रुख भी देखना होगा। दुनिया में आज कहीं भी मजहब के आधार पर राज्य की रचना नहीं हुई है। खुद पाकिस्तानवाले भी जनतंत्र की दुहाई देने लगे हैं। यह तो हमारे जनतंत्र की ही जीत हो रही है। ऐसी दशा में हम यदि मजहबी राज के अंधे रास्ते चलने लगें

तो हम हवा में ही उमड़ते रहेंगे। जमीन पर कहीं भी हमारे पैर न टिक सकेंगे। आज के 'हिंद' में हिंदू बड़ी संख्या में हैं। अतः यहां की राजनीति में उनका प्रभाव व महत्व रहेगा ही। अखंड हिंदुस्तान में शायद ही इतना महत्व रहता। हिंदू-दृष्टिकोण से आज का हिंद उनके हितों के ज्यादा अनुकूल या नजदीक है। अब यहां हिंदू-राज का नारा लगाने का मतलब है अल्पसंख्यकों को भयभीत करना। इससे हमारी अंदरूनी शांति व व्यवस्था में गड़बड़ी रहेगी, जो हमारी उन्नति व एक-राष्ट्रीयता में बाधक होगी और यदि यहां के सब अल्पसंख्यकों ने मिलकर फिर 'अलहदा' होने का नारा लगाया तो 'हिंद' का असली नाम एक तरफ रह जायगा और हम एक के बाद दूसरी उलझन में फंसते चले जायंगे। अतः सिद्धांत व व्यवहार दोनों दृष्टियों से हिंदू-आदर्श व हिंदू-हित का विचार करने से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हम हिंदुओं को जनतंत्र के सिद्धांत को ही मजबूती से पकड़ रखना चाहिए।

उपसंहार

जसे-जैसे राष्ट्रजीवन या मानव-जीवन का विकास होता है, वैसे-वैसे नई-नई समस्याएं हमारे सामने आती हैं। इनका आना हमारे जीवन की प्रगति का निदर्शक है। वे हमारे आगे के विकास में बड़ी सहायक होती हैं; पर यदि हम समस्याओं की उपेक्षा करें या उन्हें अच्छी तरह हल न करें तो हमारी प्रगति और विकास रुक जाता है। अत: देश के विचारशील और जिम्मेदार नेता हमेशा समस्याओं का मुकाबला करते हैं, उनसे घबराते या मुंह नहीं मोड़ते।

समस्याएं उन व्यक्तियों या राष्ट्रों के सामने ज्यादा आती हैं, जो किसी लक्ष्य या आदर्श को लेकर चलते हैं; क्योंकि उनका पथ सीधा-सुगम नहीं होता। लक्ष्यहीन व्यक्ति और समाज सुविधानुसार अपना मार्ग निकाल लेते हैं––आसान मार्ग की खोज करते हैं और बहुत बार इस प्रयत्न में अपने लक्ष्य को खो बैठते हैं, जबकि लक्ष्यवान् राष्ट्र या समाज संकटों, कठिनाइयों, कष्टों की परवाह न करके लक्ष्य की ओर ही सीधा बढ़ने का प्रयास करते हैं, जिससे नित्य नई समस्याएं उनके सामने आती रहती हैं। हमारा भारतीय राष्ट्र एक लक्ष्य को, एक उद्देश्य या आदर्श को लेकर चला है—भले ही उसे आप कुछ भी नाम दीजिये—समाजवाद, साम्यवाद या सर्वोदय। तीनों में कुछ अंतर है, फिर भी एक बात सर्वमान्य है। वह यह कि वह व्यक्ति की ओर से हमारा ध्यान हटाकर समाज की ओर उसे ले जाता है। कोरी संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थ या हित की दृष्टि से नहीं, सारे समाज के हित की दृष्टि इनमें प्रधान मानी गई है। यह अवांछनीय नहीं। इससे व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाजवाद दिन-दिन लोक-प्रिय होता जा रहा है। निश्चय ही अब मैं इन सबमें 'सर्वोदय' को सर्वश्रेष्ठ मानता हूं; परंतु अभी हमारे भारतीय राजनेताओं ने इसे विधिवत अपना अर्थात् राष्ट्र का ध्येय

स्वीकार नहीं किया है । मेरी यह दृढ़ धारणा है कि आगे चलकर उन्हें यह मान्य करना होगा ।

स्वतंत्र होते ही भारत ने अपने नवनिर्माण और विकास की ओर तेजी से ध्यान दिया। अंगरेजों के एकाएक चले जाने से, पाकिस्तान के निर्माण से, हमारे हाथों में नई-नई सत्ता आने से, जो-कुछ समस्याएं—साधारण और गंभीर—खड़ी हुईं, उनका हमारे राजनेताओं ने शांति, दृढ़ता और समझ के साथ मुकाबला किया, अभी-अभी पुनः-संगठन-आयोजन के सिलसिले में जिन संकटों ने हमपर बुरी तरह हमला किया, उनका भी सामना हमने बहुत-कुछ सफलता के साथ किया । अब नये राज्य बन गये, उनका काम-काज चलने लगा । भाषा की समस्या अभीतक बनी हुई है । दूसरी दंगों और उपद्रवों की समस्या मुह बाये खड़ी है । बेकारी और बेरोजगारी की, अन्न की कमी की समस्या अभीतक हल नहीं हो पाई है ।

भाषा मुख्यतः हमारे विचारों और भावों को अभिव्यक्त करती है । स्वतंत्र रूप से वह किसी तत्व या सिद्धांत का स्थान नहीं ले सकती । वह केवल एक माध्यम या साधन है, जिसके सहारे हम अपने विचार या भाव दूसरे तक पहुंचाते हैं । देश, काल, पात्र के प्रभाव से उसके अनेक रूप और नाम प्रचलित हो गये हैं । हिंदी, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं के नाम हैं, किसी तत्व या सिद्धांत के सूचक नही है । एक लंबे अर्से तक हमारा संबंध यदि एक भाषा से रहा है तो वह हमारे जीवन और स्वभाव का एक अंग बन जाती है; परंतु वह स्वयं जीवन या व्यक्तित्व का स्थान नही ले सकती । अर्थात् भाषा एक अंग, साधन, माध्यम है, अपने-आपमें कोई पूर्ण वस्तु नहीं है । इस मर्यादा को यदि हम न समझेंगे, या याद न रखेंगे तो भाषा की सेवा और उन्नति चाहते हुए भी हम उसकी कुसेवा करने की जिम्मेदारी ले लेंगे । जब हिंदी-उर्दू, या अंग्रेजी-हिंदी या आजकल हिंदी-गुरुमुखी (बोली या लिपि) के विवाद खड़े होते हैं और वे एक यादवस्थली का रूप लेने लगते है तो उस अवस्था में हम इस मर्यादा को भूले हुए होते है । मेरी समझ से पंजाब में भाषा को लेकर जो सत्याग्रह चला वह कुछ ऐसी ही स्थिति की

ओर इशारा करता था। जो आज के हिंदी-भाषी या उर्दूभाषी समझे जाते हैं वे दो-चार वर्ष पहले किस भाषा को बोलते थे? आज हम चाहे किसी भाषा को मानते और बोलते हों—उसका रूप दिन-पर-दिन बदलता जाता है और हजार-पांचसौ साल के बाद ऐसा बन जा सकता है कि पांचसौ साल पहले की हिंदी के रूप से उसका बहुत कम मेल रह जाय। करीब-करीब वह दूसरी ही भाषा हो जायगी। इसी तरह भाषाओं का विकास हुआ है। तब भाषा के नाम-रूप का आश्रय लेकर कोई सत्याग्रह—कानून-भंग-जैसा आंदोलन करना कहांतक वाजिब है—यह सोचने की बात है।

शांति की समस्या वैसे सनातन-सी है,परंतु आजकल इसी की ओर विश्व के तमाम विधायकों का ध्यान जा रहा है। भारत से इसकी पुरजोर आवाज उठी है। एक ओर हमारे पंडितजी—जवाहरलालजी ने पंचशील के द्वारा संसार में शांति की एक लहर ऊंची उठाई है, वहां दूसरी ओर हमारे बाबा—विनोबाजी ने शांति-सेना के प्रत्यक्ष संगठन पर बल देना शुरू किया है। पंडितजी और बाबा दोनों बापू के उत्तराधिकारी हैं और अहिंसा तथा शांति की सबसे पहले उच्च ध्वनि संभवतः भारत से ही उठी है। अतः भारत की खास जिम्मेदारी है—न केवल अपनी भीतरी शांति के लिए, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति-स्थापना के लिए। इसके लिए यह परम आवश्यक है कि हम उन तमाम समस्याओं को शांति-अहिंसात्मक साधनों और उपायों से सुलझाने का प्रयत्न करें, जो अबतक हिंसात्मक साधनों से सुलझती दीखती थीं और बाज-बाज तो, थोड़े काल के ही लिए क्यों न हों, सुलझ भी जाती थी। इसपर यहां अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।[१]

इस लेख के साथ यह पुस्तक समाप्त होती है। विविध समयों और

---

१. पाठक लेखक की 'हिंसा का मुकाबला कैसे करें' तथा 'शांति स्थापना' नामक पुस्तिकाओं को देखने का कष्ट करें। पूज्य विनोबा तो इसपर नित्य नई रोशनी डालते हैं। उनके प्रवचन 'भूदान-यज्ञ' नामक पत्र में नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। पाठक उन्हें अवश्य पढ़ें।

प्रसंगों पर लिखे होते हुए भी, पाठकों को समाज के नव-निर्माण में उपयोगी विचार-सामग्री इन लेखों में मिलेगी, ऐसा मैं मानता हूं। विचार का स्थान आचार से भी ऊंचा और पहला है। विचार स्पष्ट और निश्चित होने चाहिए, तभी आचार सार्थक और सही हो सकता है। मैं समझता हूं, पाठकों के विचारों को स्पष्ट और निश्चित बनाने में यह संग्रह अवश्य सहायक होगा।